संघी मोतीलालजी मास्टर

परिचय और श्रद्धांजलि

सम्पादक

जवाहिरलाल जैन

सन्त परम हितकारी, जगत मांहि ।।
प्रभु पद प्रगट करावत प्रीति, भरम मिटावत भारी ।
परम कृपालु सकल जीवन पर, हरि सम सब दुख हारी ।।
त्रिगुणातीत फिरत तन त्यागी, रीत जगत से न्यारी ।
'ब्रह्मानंद' सन्तन की सोबत, मिलत है प्रगट मुरारी ।।

प्रकाशक :

श्री सन्मति पुस्तकालय,
जयपुर ।

सन् १९२०-२१ के आसपास की बातें होगी; तब मैं पहले-पहल मास्टर मोतीलालजी के सम्पर्क में आया। कैसे और किसके साथ पहले-पहल पुस्तकालय में पहुंचा, यह याद नहीं आ रहा। मास्टर साहब मेरे ननिहाल के मकान में किराये पर रहते थे और वहां मेरा आना-जाना प्रायः होता ही था, अतः सम्भव है वहीं से उनके साथ गया होऊं, लेकिन इसमें शक नहीं कि प्रारम्भ से ही मास्टर साहब के प्रति असीम श्रद्धा और अद्भुत आकर्षण की जो अनुभूति मुझे हुई, वह आज तक कायम है और उसकी मिठास, मैं आजीवन नहीं भूल सकता।

एक बार परिचय होजाने के बाद फिर तो मुझे पुस्तकालय जाने और पुस्तकें पढ़ने का नशा सा होगया और लगभग छः-सात साल करीब करीब प्रतिदिन या एक दो दिन के अन्तर से पुस्तकालय पहुंचने और घंटों वहां ठहरने का शौक रहा। तभी से पुस्तकें खासकर उपन्यास पढ़ने की ऐसी बीमारी लगी कि कभी २ साथियों में होड़ होजाती कि पुस्तकालय में आने वाला कोई भी नया उपन्यास विना पढ़ा तो नहीं रह जाता। पढ़ने की वह बीमारी आज भी अपनी भयंकरता में कम नहीं हुई है, लेकिन उपन्यास अब अत्यन्त अपवाद रूप हो गया है।

हां, किन्तु पुस्तकालय में पुस्तकों से कहीं बढ़कर आकर्षण तो मास्टर साहब के सौम्य, उदार और महत्वपूर्ण व्यक्तित्व का था। मई-जून की भयंकर गर्मी में धोती का एक हिस्सा बदन पर डाले, एक हाथ में एक पैसे वाली खजूर की पंखी लिये सारी दोपहर पुस्तकें जमा करने, नई पुस्तकें निकालने और नाम लिखकर देने का क्रम चलता रहता। इसी बीच में नई पुस्तकें खरीदते, उनको रजिस्टर में दर्ज करते, विविध धर्मों के सम्बन्ध में चर्चा करते, किसी सज्जन के साथ एकाध घंटा बैठकर किसी पुस्तक का अध्ययन करते और बीच-बीच में कभी ऊंघ का झोंका आ ही जाता तो उसे भी दो-चार मिनट दे देते थे। पांच-सात व्यक्ति जिनमें अधिक संख्या विद्यार्थियों की होती उन्हें सदा घेरे रहते। सभी के साथ मास्टर साहब की वही व्यक्तिगत निकटता, ममत्व और हिताकांक्षा। सभी यही समझते कि मास्टर साहब का सबसे अधिक स्नेह उसी पर है और सब उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धायुक्त और आकर्षित रहते।

मास्टर साहब के साथ मेरा अधिक सम्पर्क १९३०-३२ तक रहा, बाद में १९३४-४६ तक जयपुर से बाहर रहने के कारण जब कभी जयपुर आता, तब कभी २ उनके दर्शन हो पाते, लेकिन उनके जीवन के प्रवाह का वही क्रम रहा, वही सहानुभूति, वही स्नेह, वही हिताकांक्षा। अपने धर्म का अध्ययन करने, अगले जीवन के लिए कुछ बटोर कर रखने तथा आत्मा की ओर ध्यान देने, मंदिर जाने आदि का उपदेश वे बराबर देते रहते। खेद है कि इस मामले में मैं उनकी कसौटी पर सदा ही अधूरा उतरता, लेकिन इससे कभी न उनके स्नेह में कमी आई और न कभी मेरी श्रद्धा उनके प्रति कम हुई। मास्टर साहब में मैंने आत्म-सुधार और समाज-सेवा को दूध-मिश्री की भांति बिल्कुल घुला-मिला पाया और यही कारण है कि वे अपने आप में ही एक सजीव संस्था बन गये। न वे एक अत्यन्त व्यक्तिनिष्ठ आत्मचिंतक की भांति दुनियां से अलग और दूर थे और न वे एक संस्था की भांति निर्जीव और व्यक्तिगत सम्पर्क तथा सहानुभूति से रहित थे। वे व्यक्ति रहकर भी संस्था बन सके और संस्था बनकर भी व्यक्ति रह सके, यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता मुझे प्रतीत होती है।

मास्टर साहब का देहावसान १७ जनवरी, १९४९ को हुआ। उन दिनों मैं जयपुर में ही था, फिर भी खेद है कि उनकी कोई विशेष सेवा मुझसे नहीं बन पड़ी। इसकी कसक दिल में बराबर है। मास्टर साहब के प्रति श्रद्धांजलि के रूप में कुछ अश्रुकण मैंने लोकवाणी के जरिये उस समय अर्पित किये थे, लेकिन उससे न उनके प्रति न्याय हो सका और न मुझे उससे संतोष ही हुआ। पर मैं सोचता रहा कि कोई अधिक समर्थ, विद्वान अथवा मास्टर साहब के अधिक निकट शिष्य स्मारक ग्रन्थ के काम को हाथ में लें तो मैं भी उसी तीर्थ-जल में अपनी श्रद्धा के कुछ अश्रुकण सम्मिलित करके अपने-आप को धन्य मानूंगा, लेकिन जब इस तरह का कोई भी प्रयत्न किसी ओर से होता नहीं दिखाई दिया और समय अधिक बीतता लगा तो फिर गत वर्ष मार्च में मैंने ही अपने कुछ साथियों और मित्रों की सलाह से इस काम का भार अपने निर्बल कंधों पर उठाने का डरते २ विचार किया। इस प्रयत्न का जो परिणाम हुआ वह इस पुस्तक के रूप में पाठकों के सामने है। इस सम्बन्ध में मुझे बुजुर्गों और साथियों ने प्रोत्साहन, मार्गदर्शन और सहारा दिया, लेकिन साथ ही अनेकों की ओर से मुझे निराश भी होना पड़ा। जिन्होंने कृपापूर्वक सहायता दी, उन सबका मैं अत्यंत आभारी हूं, साथ ही बार २ प्रयत्न करके भी जिनकी ओर से अन्त तक निराश ही रहना पड़ा, उन्हें भी मैं धन्यवाद देता हूं। इस संबंध में मेरा इतना ही निवेदन है कि हम जिस काम में सहायक होना इष्ट मानें उसमें तुरन्त यथाशक्ति सहायता देदें, और जिसमें सहायक न होना चाहें

तुरंत ही इन्कार करदें। जब तक हमारे देश में अनुचित लगने पर स्पष्ट 'न कह सकने का आत्मबल जागृत नहीं होगा और हम अपने तथा दूसरों के समय और शक्ति की कद्र करना नहीं सीखेंगे, तब तक राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण सम्भव नहीं है।

मास्टर साहब के प्रति श्रद्धांजलि और संस्मरण का यह संग्रह बहुत छोटा और अधूरा है। इसे इस दिशा में एक आरम्भ मात्र ही माना जाय। मैं मास्टर साहब के सभी शिष्यों और प्रशंसकों तक पहुंच भी नहीं पाया, लेकिन मैं इस काम में अधिक विलम्ब वांछनीय नहीं समझता था और पुस्तक को मास्टर साहब की पांचवी पुण्यतिथि १७ जनवरी १९५३ तक प्रकाशित कर देना चाहता था, इसलिए इस अवधि के भीतर जितनी सामग्री एकत्रित हो सकी, वह इसमें शामिल करदी गई है। मास्टर साहब का जीवन-परिचय लिखने में मुझे स्वर्गीय श्री श्रीप्रकाशजी शास्त्री तथा श्री माणिकचन्दजी जैन के एक हस्तलिखित निबंध से बहुत सहायता मिली है। इस सारे काम में श्री सन्मति पुस्तकालय के प्रबन्ध ट्रस्टी श्री गेंदीलालजी गंगवाल का सक्रिय सहयोग रहा है। खेद है कुछ कारणों से पुस्तक का प्रकाशन निश्चित तिथि से एक पक्ष बाद हो रहा है।

मुझे आशा है कि मास्टर साहब के जीवन, विचार और आचरण की यह संक्षिप्त सी झांकी पाठकों में मास्टर साहब की ही भांति आत्मोन्नति और समाज-सेवा के समन्वित जीवन-दर्शन को समझने और समझ में आये तो प्रयत्नपूर्वक अपनाने की प्रेरणा और स्फूर्ति देगी—

इक जन जावे, दूजा आवे, फिर भी ज्योति जले।

बापू निधन तिथि
३० जनवरी, १९५३

जवाहिरलाल जैन

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में

संतोष की बात है कि श्री सन्मति पुस्तकालय के नये भवन के शिलान्यास के अवसर पर पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने का निश्चय किया गया, क्योंकि पहला संस्करण लगभग समाप्त हो चुका था। इस संस्करण में नये संस्मरण भी काफी संख्या में जोड़ दिये गये हैं। पहले हमारा विचार मास्टर साहब के द्वारा चुने और पसन्द किये गये भजनों, सूक्तियों और कथाओं का छोटा सा संग्रह इस पुस्तक में बढ़ा देने का था, पर नये संस्मरणों की संख्या बढ़ जाने के कारण यह विचार छोड़ देना पड़ा और यह तय करना पड़ा कि स्वतंत्र रूप से ही निकट भविष्य में किसी उपयुक्त अवसर पर प्रकाशित किया जाय। नये संस्मरण प्राप्त करने में, पुस्तक के प्रूफ आदि देखने में और समय में पुस्तक को छाप देने में अनेक मित्रों का बहुत अधिक परिश्रम रहा है। जिन भाई-बहिनों ने संस्मरण लिखे हैं और जिन्होंने पुस्तक छपाई आदि के कामों में मदद की है, उन सबका मैं हृदय से आभारी हूँ। इस सब में भी मास्टर साहब की परोपकारी और समाज-सेवी मनोवृत्ति का असर मौजूद है—ऐसा मुझे लगता है।

जीवन ज्योति
ए—२१, बजाजनगर
जयपुर-४
२८ मई, १९६९

जवाहिरलाल जैन

विषय-सूची

विचार और दृष्टिकोण

संक्षिप्त
जीवन-परिचय

(जन्म–२५ अप्रैल, १८७६, देहान्त–१७ जनवरी, १९४९)

हजरत उस्ताद श्री मोतीलालजी साहब संघी जयपुरी

मृत्यु-तिथि सम्बन्धी पद्य

(श्री चांदबिहारीलाल माथुर 'सबा' जयपुरी शागिर्द मरहूम व मग़फ़ूर)

(१)

अगर तारीख़ की है फ़िक्र तुझको।
सबा उस्ताद मोतीलालजी की ।।
तुझे फिर फ़िक्र क्या है—तू यह कदे ।
सिपहरे इक्तदारे ज़ौक़ मानी ।।[1] (१६४६ ई०)

(२)

रहलत है यह मोतीलालजी की।
थी फ़ैज़ रसाने ख़ल्क़ जो ज़ात ।।
तारीख यह उनकी कह सबा तू।
खामोश है मुस्तजाबे दावात[2] ।।

(३)

मोतीलाल हुए रुखसत ।
देकर आज गमे जां काह ।
कहदे सबा तारीख उनकी ।
फ़ख्रे ज़माना रुज़वां जाह[3] ।।

---

(१) सम्मान, प्रेरणा और सार्थकता के सूर्य । (२) दुआ स्वीकार करने वाली शक्ति अर्थात् ईश्वर भी शोक में चुप है। (३) युग के गौरव तथा स्वर्ग के अधिकारी ।

संघी मोतीलालजी मास्टर

(२५ अप्रैल १८७६–१७ जनवरी १९४९)

संघी मोतीलालजी मास्टर का जन्म २५ अप्रैल, १८७६ को वर्तमान राजस्थान राज्य के जयपुर डिवीजन के अन्तर्गत जयपुर जिले के चौमू कस्बे में हुआ था। चौमू भूतपूर्व जयपुर रियासत का एक प्रतिष्ठित ताजीमी ठिकाना रहा है। मास्टर साहब के पितामह श्री लादूरामजी संघी ठिकाने के कामदार तथा चौमू के अत्यन्त प्रतिष्ठित और मान्य व्यक्तियों में से थे। श्री लादूरामजी के तीन पुत्र थे– १. श्री विजयलालजी, २. श्री पन्नालालजी, ३. श्री जौहरीलालजी। श्री विजयलालजी के पुत्र मास्टर मोतीलालजी थे। लादूरामजी के समय में घर की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी, लेकिन बाद में स्थिति बिगड़ती गई।

मास्टर साहब ने छठी श्रेणी तक–अपर प्राइमरी तक की शिक्षा चौमूं में ही प्राप्त की। चौमूं में आगे शिक्षा की व्यवस्था न होने के कारण वे जयपुर आगये और यहाँ के महाराजा कॉलेज में भर्ती हो गये। यहीं से १८९७ में उन्होंने प्रयाग विश्व विद्यालय की मैट्रिक परीक्षा पास की। १८९९ में जब वे इन्टरमीजियट की कक्षा में–उस जमाने के एफ० ए० में पढ़ रहे थे, तब उन्होंने पढ़ना छोड़ दिया।

कॉलेज छोड़ने के बाद कई वर्ष तक वे ट्यूशन करके अपनी आजीविका चलाते रहे। २७ अक्टूबर १९०७ को वे जयपुर नगर के वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल के प्रधानाध्यापक नियत हुए। उस समय उनका वेतन १५) मासिक था। करीब एक वर्ष बाद उक्त स्कूल के उठ जाने पर वे महाराजा कालिजियट हाई स्कूल में उसी वेतन पर सहायक अध्यापक नियुक्त हुए। २० जुलाई १९१७ को उसी वेतन और उसी पद पर उनका तबादला शिवपोल मिडिल स्कूल में कर दिया गया। उसी संस्था में उन्हें १ मई १९२० को ५) मासिक की वेतन-वृद्धि मिली। इसके बाद दो बार में पांच-पांच की तरक्की सन् १९२३ तक मिली और इस प्रकार १ सितम्बर १९२३ से उन्हें ३०) मासिक का वेतन मिलने लगा।

१९२५ के जुलाई मास में मास्टर साहब का तबादला चांदपोल हाई-स्कूल में हो गया और उसके बाद उन्हें २) वार्षिक की वेतन वृद्धि प्राप्त हुई जो १९२८ में ४०) मासिक पर समाप्त हो गई क्योंकि उनके वेतन की ग्रेड

२४-२-४० तक ही थी। १९३७ तक मास्टर साहब इसी हाईस्कूल में गणित का अध्यापन करते रहे और इसी वर्ष नवम्बर मास में तीस साल की सरकारी नौकरी और ६१ वर्ष की अवस्था हो जाने के कारण उनकी पेंशन करदी गई। २०) मासिक की सरकारी पेंशन उन्हें आजीवन मिलती रही। सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्त करने पर मास्टर साहब के विद्यार्थियों और सहयोगियों द्वारा एक विशाल विदाई समारोह और अभिनन्दन का आयोजन किया गया। इसकी अध्यक्षता तत्कालीन शिक्षा मन्त्री जोवनेर के ठाकुर नरेन्द्र सिंहजी ने की। मास्टर साहब को अभिनन्दन पत्र तथा ग्यारह सौ रुपये की थैली भेंट की गई। थैली की रकम मास्टर साहब ने तुरन्त ही साधनहीन विद्यार्थियों के उपयोग में लाने की घोषणा की। मास्टर साहब अभिनन्दन-पत्र का उत्तर देते समय इतने भावमय हो गये कि उनसे कुछ न बोला गया, वे केवल हाथ जोड़कर खड़े रह गये। उनका एक लिखित संदेश ही सभा में पढ़कर सुनाया गया, जिसमें उन्होंने विद्यार्थियों को समाज सेवी और शुद्धाचरणयुक्त बनने की ही प्रेरणा दी।

मास्टर साहब का विवाह राजस्थान की तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के अनुसार ९ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था। उनकी धर्मपत्नी की अवस्था उस समय केवल पांच वर्ष की थी। २८ वर्ष के सुखी वैवाहिक जीवन के बाद मास्टर साहब की धर्मपत्नी का देहांत हो गया। यद्यपि मास्टर साहब की अवस्था उस समय केवल ३७ वर्ष की ही थी, किन्तु उन्होंने दूसरा विवाह करने से इन्कार कर दिया और इस प्रकार लगभग ४० वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया। मास्टर साहब के कुल मिलाकर चौदह सन्तान हुई, लेकिन केवल दो ही जीवित रहीं। उनके पुत्र श्री सूरजमलजी का जन्म सं० १९५० में हुआ था। दूसरी संतान उनकी पुत्री सोनबाई थीं जिनका जन्म सं० १९५३ में हुआ था। सोनबाई का विवाह मास्टर नानूलालजी के छोटे भाई श्री छोटेलालजी से हुआ था। श्री छोटेलालजी अद्‌भुत क्षमताशील, सूझ-बूझ तथा लगन वाले व्यक्ति थे। श्रीमती सोनबाई का देहान्त केवल १८ वर्ष की अवस्था में ही हो गया और छोटेलालजी अपनी पत्नी की मृत्यु के तीन दिन बाद ही जयपुर से चले गये और बाद में वे गांधीजी के निकटतम सम्पर्क में आये और साबरमती आश्रम तथा सेवाग्राम आश्रम में वे गांधीजी के अत्यन्त निकट के सहयोगियों तथा साथियों में थे। गांधीजी ने आश्रम जीवन और ग्रामोद्योग के आरम्भ और विकास में स्वर्गीय श्रीमगनलालजी गांधी और श्री छोटेलालजी को ही सबसे अधिक सहायक माना था। श्री छोटेलाल जी का देहांत बापू के निर्वाण के कुछ ही वर्ष पूर्व हो गया था।

श्री सूरजमलली के केवल एक ही पुत्री है। इनका विवाह अलवर निवासी श्री नयनानन्दजी जैन से हुआ। उनकी संतति के रूप में ही अव मास्टर साहव की वंश परम्परा कायम है। इनमें श्री निर्मल कुमार की अवस्था लगभग पैंतीस वर्ष की है और वे वी. काम., एलएल. वी. की शिक्षा प्राप्त करने के वाद अव चार्टर्ड अकाउन्टैण्ट का कार्य कर रहे हैं।

२

मास्टर साहव का जन्म जैन धर्म की दिगम्वर शाखा की अनुयायिनी खंडेलवाल वैश्य जाति के दोशी गोत्र में हुआ था, अत: दिगम्वर जैन धर्म सम्वन्धी धार्मिक संस्कार और खंडेलवाल वैश्य (सरावगी महाजन) जाति सम्वन्धी सामाजिक संस्कार उन्हें जन्म और कुल से ही प्राप्त थे और समाज-सुधार तथा समाज-सेवा का वीज भी उनमें आरम्भ से ही अंकुरित प्रतीत होता है, क्योंकि अध्ययन समाप्त करने और सरकारी सेवा में प्रविष्ट होने के साथ-साथ वे १९०६ के आसपास तत्कालीन स्थानीय जैन समाज के अत्यन्त प्रगतिशील नेताओं और कार्यकर्ताओं के जिनमें श्री अर्जुनलालजी सेठी, घीसीलालजी गोलेछा आदि प्रमुख थे निकटतम संपर्क में आ चुके थे और उनकी अन्तरंग समिति के सदस्य वन चुके थे। वे उसी समय से स्वदेशी के भक्त वन गये और श्री सेठजी के शिक्षा–प्रसार संवंधी कामों में भी वहुत सहायता करने लग गये। श्री सूर्यनारायणजी सेठी तथा श्री घीसीलाल जी गोलेछा के सहभोज को लेकर दिगम्वर जैन समाज में वहिष्कार का जो आंदोलन चला था, उसके शिकार वे भी हुए। वाद में श्री अर्जुनलालजी सेठी के देश की क्रांतिकारी राजनीति में सक्रिय रूप से लग जाने के कारण शिक्षा-प्रसार, चरित्र तथा समाज-सुधार का वह सराहनीय कार्य वन्द हो गया और मास्टर साहव तथा सेठीजी के मार्ग भिन्न-भिन्न हो गये। मास्टर साहव आध्यात्मिकता, चारित्रिक शुद्धता और जन शिक्षण के मार्ग से समाज-निर्माण के काम में आगे वढ़े और सेठी जी कभी तिलक और कभी गांधी के मार्गों पर चलने के प्रयत्न में कहां से कहां जा पहुंचे यह तो राजस्थान के राजनैतिक इतिहास का एक पृष्ठ ही वन गया है। सन् १९१६ में जयपुर में प्लेग का प्रकोप हुआ। प्लेग के उस प्रकोप में जिस प्रकार मृत्यु का ताण्डव चारों ओर उठा, उसके कारण सम्भवत: धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन और आध्यात्मिक विचारों की ओर विशेष झुकाव हुआ। यद्यपि विचारों में दृढ़ता उनमें शुरू से ही थी और घोर प्लेग के जमाने में भी वे शहर में आकर अपना ट्यूशन सम्वधी कार्य-क्रम यथावत् चालू रखते रहे, फिर भी इस वार उन्होंने चोमूं जाते समय मोक्ष शास्त्र का विशेष अध्ययन किया और उनकी अभिरुचि

आध्यात्मिकता की ओर अधिकाधिक होने लगी। जयपुर वापिस आने पर वे वधीचन्दजी के मन्दिर में पं० चिमनलालजी गोधा—वक्ताजी – के व्याख्यान में प्रतिदिन शास्त्र श्रवण के लिए जाने लगे। इससे उनमें धार्मिक भावनाओं को विशेष बल मिला।

अगले वर्ष (१६१७) एक ऐसी घटना हुई जिसने उनकी जीवन धारा को बदलने में बड़ी सहायता दी। वे एक दिन ट्यूशन करके अपने घर की ओर लौट रहे थे। रास्ते में एक मित्र की दुकान थी जहां वे प्रायः ठहर जाया करते थे। उस दिन उस दुकान पर एक मद्रासी साधु खड़े थे। वे अंग्रेजी ही बोलते थे, जिसे उनके मित्र समझ नहीं पाते थे। मास्टर साहब को देखते ही मित्र महोदय ने उनको बुला लिया और मास्टर साहब से कहा आप इनसे बातचीत कीजिये। इसके बाद उस साधु तथा मास्टर साहब में लम्बा वार्तालाप हुआ।

साधु महोदय ने मास्टर साहब से पूछा—आप कौन हैं?

मास्टर साहब ने उत्तर दिया—मैं जैन हूँ।

जैन किसे कहते हैं? जैनधर्म की क्या विशेषता है? आप किस अर्थ में जैन हैं?–आदि कई प्रश्न साधु महोदय ने मास्टर साहब से किये। मास्टर साहब ने अपनी जानकारी के अनुसार उनका उत्तर तो दिया, पर ठीक और सन्तोषपूर्ण उत्तर न पाने से दोनों की ही तृप्ति न हुई। यह सामान्य सिद्धांत है कि किसी भी विवेचन का सबसे कठिन भाग परिभाषा ही है, और आदर्श की बात तो की जाती है, लेकिन उस पर जबखरे उतरने की बात सामने आती है तो प्रायः जबान बन्द हो ही जाती है। अस्तु।

साधु महोदय ने कुछ अन्य लोगों से भी इसी प्रकार के प्रश्न किये। किसी ने कहा—मैं वैष्णव हूं, किसी ने कहा—मैं शिवोपासक हूं, लेकिन यह पूछने पर कि वैष्णव धर्म की विशेषता क्या है? शिवोपासक कैसे होने चाहिये—इन प्रश्नों का उत्तर सामान्य जानकारी वाले लोग क्या दे सकते थे? सब या तो चुप हो जाते थे या वैसे ही कुछ उत्तर दे देते थे।

साधु महोदय तो एक दो दिन बाद चले गये, लेकिन इस प्रसंग का मास्टर साहब के चित्त पर बड़ा असर हुआ। उन्हें लगा कि न हममें अपने बारे में और दूसरों के बारे में कुछ ज्ञान ही है, और न जो कुछ हम अपने आपको मानते हैं, उसके अनुकूल हमारा कर्म ही है। हम स्वयं अज्ञान के समुद्र में डूबे जा रहे हैं और दुनियां भी डूबी जा रही है। जिसे देखो वह

आत्म-ज्ञान के सम्बन्ध में बिल्कुल कोरा ही है। जब मार्ग ही सामने स्पष्ट नहीं है तब सत्पथ पर चलने का या न चल पाने का सवाल ही कहां है !

बहुत कुछ सोचा, कोई उपाय न सूझा। लेकिन साधु महोदय ने मास्टर साहब की आत्मा को एक बारगी ही झकझोर दिया था, उनके दिल में एक प्रकार की टीस पैदा हो गयी थी, पिपासा जागृत हो गई थी, एक मीठी मीठी बेचैनी पैदा हो गई थी जो उन्हें प्रेरणा दे रही थी और उन्हें कुछ न कुछ करने के लिए बराबर उकसा रही थी। उन्होंने निश्चय किया कि सबसे पहले उन्हें स्वयं आध्यात्मिक और धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये और फिर आम जनता में इनके अध्ययन की रुचि उत्पन्न करनी चाहिये। ज्ञान के प्रकाश के बिना अज्ञानांधकार में मार्ग नहीं सूझ सकता। अतः उन्होंने स्वयं अपने धर्म-ग्रंथों के अध्ययन से आरम्भ करने का विचार किया। लेकिन उनके सामने एक कठिनाई थी। स्कूल में अध्ययन के समय उनकी दूसरी भाषा उर्दू थी। हिन्दी पढ़ने में भी इन्हें बड़ी कठिनाई होती थी, संस्कृत का तो प्रश्न ही कहाँ, और जैनधर्म का तो प्रायः समग्र उच्चकोटि का साहित्य संस्कृत अथवा प्राकृत में ही था। लेकिन लगी हुई लगन छूटने वाली कहां थी— उन्होंने हिन्दी टीका में ही धर्म ग्रन्थों को पढ़ने का अभ्यास बढ़ाया और संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान विद्यार्थी की भाँति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार कठिन परिश्रम के बल पर आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन और ज्ञान वे लगातार और आजीवन प्राप्त करते रहे।

जन सेवा की दृष्टि से वे पहले अपनी आय का निश्चित अंश करीब ७) या ८) मासिक गरीबों को भोजन कराने तथा कबूतरों को जुआर डालने में व्यय किया करते थे। अब वे लगभग १०) मासिक की धार्मिक पुस्तकें खरीदने लगे। कुछ पुस्तकें उनके पास पहले भी थीं। कुछ ही समय में १०००-१५०० पुस्तकों का उत्तम संग्रह उनके पास हो गया। अपने उस संग्रह से उन्होंने अपने निवास स्थान से थोड़े फासले पर स्थित दिगम्बर जैन मन्दिर बड़े मन्दिर में श्री सन्मति पुस्तकालय की स्थापना सन् १९२० में की। वे अपने अध्यापन तथा ट्यूशन कार्य को करते हुए सुबह, शाम अथवा स्कूल की छुट्टी आदि का जो भी अवकाश का समय मिलता उसमें वे चुनी हुई पुस्तकें लेकर अपने परिचित मिलने जुलने वालों, प्रतिष्ठित व्यक्तियों के घरों पर जाते और वहाँ उनकी योग्यता के अनुरूप पुस्तकें पढ़ने को देते, आत्मज्ञान की आवश्यकता समझाते और सन्मार्ग पर बढ़ने पर जोर देते। निश्चित समय पर वे स्वयं भी पुस्तकें लेने पहुँच जाते और दूसरी पुस्तकें दे आते। यदि कोई सज्जन आलस्यवश पुस्तकें नहीं पढ़ पाते तो उन्हें स्वाध्याय के लाभ और

आवश्यकता समझाते, पढ़ने में रुचि उत्पन्न करते और पुस्तक पढ़ने की प्रेरणा देते। इसके साथ ही पुस्तकों की सुरक्षा की दृष्टि से उन पर अखबारी कागज का गत्ता चढ़ाने का काम भी वे स्वयं प्रतिदिन घंटे दो घंटे बराबर करते थे। उन्होंने अपने जीवन काल में हजारों ही पुस्तकों पर इस प्रकार गत्ते चढ़ाये होंगे।

३

पुस्तकालय को स्थापना के बाद मास्टर साहब का जीवन उसमें अधिकाधिक केन्द्रित होता गया। धीरे २ पुस्तकालय मास्टरसाहब-मय होता गया और मास्टर साहब पुस्तकालय–मय होते गये, यहां तक कि अन्त में मास्टर साहब और पुस्तकालय दोनों एक ही दृष्टि से पर्यायवाची बन गये।

पुस्तकालय की स्थापना के समय मास्टर साहब अपने अवकाश का समय ही उसमें दे पाते थे। अध्यापन, ट्यूशन,खान-पान-विश्राम, शयन आदि से जो समय बचता वह उसमें लगाते थे। पुस्तकालय ज्यों २ जमता गया त्यों २ वे उसमें अपना समय और शक्ति भी अधिकाधिक लगाते गये। पहले उन्होंने ट्यूशनों का करना छोड़ा। फिर वे धीरे २ घर पर अपने रहने का समय कम करते गये। अध्यापन कार्य से पेंशन लेने के बाद वे स्कूल में दिया जाने वाला समय भी यहीं लगाने लगे और बाद में तो वे अपने घर केवल भोजन के लिए जाते थे, बाकी समय रात दिन पुस्तकालय में ही रहते थे और इसी के काम में अपनी सारी शक्ति और समय लगाते थे। वे न केवल पुस्तकालय के संस्थापक और संरक्षक थे, बल्कि वे इसके व्यवस्थापक, लेखक, चपरासी और भृत्य सब कुछ अकेले ही थे। पुस्तकालय के कमरे की झाड़ू-बुहारी से लेकर, पुस्तकें खरीदना, गत्तेचढ़ाना, रजिस्टरों में दर्ज करना, पाठकों को देना-लेना, पुस्तकें घर जाकर दे आना, घरों से ले आना—सभी काम वे अकेले ही करते थे। विद्यार्थियों की टोली जरूर उन्हें थोड़ी बहुत मदद कर देती थी और उन्हीं में से धीरे २ उनके कुछ सहायक भी मिल गये थे, लेकिन वे अपने काम में बराबर लगे रहते थे, जितनी सहायता समय पर मिल जाती वह सहज स्वीकार थी, बाकी अपना काम वे लगातार करते रहते थे।

मास्टर साहब की अभिरुचि अधिकाधिक आध्यात्मिकता की ओर थी। वे सदा इसी प्रकार की पुस्तकों का अध्ययन करते थे और औरों को भी इसी दिशा में प्रेरणा देने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। लेकिन वे बालकों और आम जनता के झुकाव से अपरिचित नहीं थे और उन्हें उनके परिचित और आकर्षक मार्ग से उनके जीवन में प्रवेश करने और उसे प्रभावित करने की कला खूब आती थी। वे धार्मिक थे, लेकिन धर्मान्ध नहीं थे। वे सुधारक थे लेकिन

डिक्टेटर नहीं। वे कुनैन देना चाहते थे, लेकिन उसे खांड में लपेट कर देने के विरोधी नहीं थे। वे इस बात को जानते थे कि लोगों की सामान्य रुचि कथा, कहानियों, उपन्यासों, नाटकों आदि की ओर विशेष रहती है, अतः उन्होंने अपने पुस्तकालय में हजारों की संख्या में ऐसी पुस्तकें खरीदी थीं और वे पाठकों को उनकी रुचि के अनुसार पुस्तकें देते थे लेकिन पुस्तकें वे स्वयं परिमित संख्या में देते थे, साथ में एक दो पुस्तकें धार्मिक, आध्यात्मिक अथवा सदाचार सम्बन्धी अवश्य देते थे, और जब दोनों प्रकार की पुस्तकें ले जाने वाले पुस्तकें वापिस लाते तो उन धार्मिक पुस्तकों में उन्होंने क्या पढ़ा, इसकी जांच करते थे। अगर वे पुस्तकें बिना पढ़ी वापिस आती तो वे पाठक को समझाते और दुबारा वही दे देते और पढ़ने की प्रेरणा करते, इस प्रकार वे धीरे-धीरे उसकी सद्ग्रन्थ पढ़ने की रुचि को जागृत और प्रोत्साहित करते थे। वास्तव में वे कुशल मनोवैज्ञानिक की भांति अपने पाठकों की रुचि और झुकाव का अध्ययन करते तथा उसे धैर्यपूर्वक सही दिशा में मोड़ने का प्रयत्न करते रहते थे। बालकों, युवकों और वृद्धों की इस प्रकार की सेवा वे दत्त चित्त होकर करते रहते थे।

४

विद्यार्थियों की सहायता मास्टर साहब के जीवन का मुख्य ध्येय रहा। वे व्यवसाय की दृष्टि से शिक्षक थे और आदर्श की दृष्टि से भी आजीवन शिक्षक रहे। वे व्यावसायिक कार्य के अतिरिक्त विद्यार्थियों को निःशुल्क पढ़ाते थे, इसके अलावा वे असमर्थ विद्यार्थियों को पाठ्य पुस्तकें देने अथवा उनकी व्यवस्था करवा देने में आजीवन ही तत्पर रहे। वे स्वयं अपनी आय में से इस प्रकार की पुस्तकें खरीदते, परीक्षाओं में सफल होने वाले विद्यार्थियों को इस बात की प्रेरणा देते कि उनके काम में आ-चुकने वाली पुस्तकें पुस्तकालय को प्रदान करदें ताकि वे दूसरे विद्यार्थियों के काम आ-सकें अथवा वे सीधे गरीब विद्यार्थियों को पुस्तकें दिलवा देते। सामान्य अध्ययन की हजारों पुस्तकों के अलावा पाठ्य पुस्तकों का यह आदान–प्रदान शिक्षा सत्र के आरम्भ में वे प्रतिवर्ष बहुत बड़ी संख्या में करते तथा करवा देते थे।

गरीब विद्यार्थियों के लिए जिस प्रकार पाठ्य पुस्तकें प्राप्त करना एक बड़े संकट का काम होता था, उसी प्रकार बल्कि उससे भी अधिक संकट-पूर्ण स्थिति उनके सामने विश्वविद्यालय की विभिन्न परीक्षाओं के फार्म भरने के समय आती थी जब ५) से लेकर ३०) या ४०) तक उन्हें परीक्षा-शुल्क के नकद देने पड़ते थे। इस कठिनाई के अवसर पर भी मास्टर साहब अपनी पूरी शक्ति और प्रभाव से विद्यार्थियों की सहायता के लिए तत्पर रहते थे। किसी

के लिए पूरी फीस, किसी के लिए आधी या चौथाई जैसी जिसके लिए उचित समझते, या जैसी जिसकी शक्ति देखते उसकी व्यवस्था करने में जुट जाते थे, वल्कि जिन विद्यार्थियों की सहायता वे पुस्तकों आदि से करते थे, उनके लिए फीस आदि के वारे में भी वे पहले से ही सोचने लग जाते थे और अपने परिचित तथा सहायक वर्ग को इस बारे में पहले से टटोलते रहते थे और समय के पूर्व ही सहायता की व्यवस्था कर रखने की चिन्ता रखते थे ताकि ऐन वक्त पर कहीं असमर्थ और योग्य परीक्षार्थी परीक्षा देने से वंचित न रह जाँय। फार्म भरने के दिनों में उनके चारों ओर ऐसे विद्यार्थियों की भीड़ लगी रहती और वे उनके लिए उनकी असमर्थता के लिहाज से सहायता प्राप्त करने, सहायता दे सकने वाले लोगों के पास स्वयं जाते, विद्यार्थियों को ले जाने या मिलवा देने में व्यस्त रहते।

बहुत से गरीब विद्यार्थियों की दिक्कत केवल पाठ्य पुस्तकें प्राप्त कर लेने या परीक्षा के लिए फीस प्राप्त कर लेने से ही खतम नहीं होती थी, उन्हें खाने-पहनने और रहने की व्यवस्था में भी बहुत कठिनाई पड़ती थी और इस में भी मास्टर साहब विद्यार्थियों की बड़ी सहायता करते थे। वे ऊंची श्रेणी के विद्यार्थियों के लिए प्राइवेट ट्यूशन की अथवा किसी आंशिक काम की व्यवस्था करने का प्रयत्न बराबर करते रहते थे क्योंकि उनके बहुत से परिचित लोग अपने बालकों के लिए उचित अध्यापक की भी मांग करते रहते थे। लेकिन वे केवल ट्यूशन की व्यवस्था करके ही संतुष्ट नहीं हो जाते थे, वल्कि इस बात पर भी निगाह रखते थे कि अध्यापक अपने कार्य के द्वारा विद्यार्थी और उसके अभिभावक को संतुष्ट रख पाता है या नहीं और साथ ही अभिभावक उक्त अध्यापक को समुचित पारिश्रमिक समय पर दे देता है या नहीं, क्योंकि वे अध्यापक और अभिभावक दोनों के समान हितैषी थे।

मास्टर साहब की यह सारी सहायता बिना किसी धार्मिक, जातीय या वर्णसंबंधी पक्षपात सबके लिए खुली थी। जो उनके पास पहुंच पाता या पहुंच जाता और जिसकी असमर्थता और कठिनाई की वास्तविकता में उनका विश्वास हो जाता, वे बराबर उसकी सहायता करते थे, तथापि यह कहना अप्रासंगिक नही होगा कि स्वभाविक रूप में उनके संपर्क में विशेष आने के कारण जैन विद्यार्थियों को उनसे अधिक लाभ पहुंचा होगा।

मास्टर साहब के संपर्क में आने वाले कुछ ऐसे असमर्थ विद्यार्थी भी थे जो मास्टर साहब के पास ही रहते थे और मास्टर साहब उनके भोजन-वस्त्रादि का व्यय स्वयं अपने पाससे-अपनी छोटी सी आय में से ही देते थे।

ऐसे विद्यार्थी बरस–दो बरस सहायता प्राप्त करके अध्ययन समाप्त कर लेते थे और अपने धन्धे में लग जाते थे। कुछ विद्यार्थी ऐसे भी थे जो दस–पांच वर्ष भी इस प्रकार मास्टर साहब की सीधी सहायता लेकर उनके ही पास रहे और बरसों विद्याध्ययन करते रहे – ऐसे विद्यार्थियों में से अनेक आज उच्च कोटि के शिक्षित तथा ऊंचे पदों पर हैं।

मास्टर साहब के मन में विद्यार्थियों की सहायता के संबंध में इस तरह का कोई भेद भाव नहीं था कि प्राइमरी शिक्षा वाले, माध्यमिक या कालेज की शिक्षा प्राप्त करने वाले या किसी टेक्नीकल शिक्षा प्राप्त करने वाले शिक्षार्थी की मदद करें या न करें। उनका हृदय सब के लिए समानरूप से खुला हुआ था–वे केवल पात्र का विचार करते थे और इस बात का प्रयत्न करते थे कि कोई सुशील और योग्य छात्र आर्थिक या अन्य कठिनाई के कारण अपनी वांछित शिक्षा–प्राप्ति से वंचित न रह जाय।

आज जयपुर में हज़ारों शिक्षित नागरिक ऐसे अवश्य हैं जो यह अनुभव करते हैं कि यदि मास्टर साहब का वरदहस्त उनके सिर पर नहीं होता तो वे आज के वर्तमान पद और स्थिति पर कभी नहीं हो सकते थे। इस का अनुमान आज कौन लगा सकता है कि उनकी जैसी सहायता के अभाव में कितने विद्यार्थियों को कितनी कठिनाइयों और अभावों का सामना करना पड़ता होगा और मास्टर साहब के जैसे प्रेरक व्यक्तित्व की आज भी और सदा ही कितनी आवश्यकता रहेगी, लेकिन आज का सार्वजनिक जीवन जितना छिछला, स्वार्थपूर्ण और राजनीतिमय हो गया है उसमें आज मूक और निर्माण कारी प्रवृत्ति के लिए किसे अवकाश है और कौन इसकी कद्र करता है?

मास्टर साहब का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। गोरा चिट्टारंग, मंझला-कद, करीब ५।। फुट की ऊंचाई, दुहरा मोटा शरीर, सादा पहनावा–धोती और कुर्त्ता या कमीज, पजामा और अचकन भी और सिर पर प्राय: लाल रंग की खूंटेदार पगड़ी, उन्हें सैंकड़ों व्यक्तियों में भी अलग ही पहचाना जा सकता था।

मास्टर साहब का व्यक्तिगत जीवन और दिनचर्या अत्यन्त सादी थी। वे सुबह सूर्योदय से बहुत पहले उठ जाते थे और करीब डेढ दो घंटे का समय सामयिक तथा आत्मचिन्तन में लगाते थे। इसके बाद आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर वे मन्दिर में जाकर शास्त्र श्रवण करते थे तथा यदि नगर में कोई साधु सन्त आये होते तो उनके पास कुछ समय के लिए धर्मोपदेश के लिए चले जाते थे। वहां से आकर नौ और दस बजे के बीच भोजन कर लेते

थे। शास्त्र-श्रवण और धर्मोपदेश के समय जो भी बात उन्हें उपयोगी और उचित लगती थी उसे वे नोट कर लिया करते थे और उसका मनन-चिन्तन रास्ते में आते जाते भी करते रहते थे। इसके बाद का समय वे पुस्तकालय में ही लगाते थे। शाम को सूर्यास्त के पूर्व ही भोजन कर लिया करते थे और भोजनोपरान्त फिर मन्दिर में जाकर करीब एक घंटे तक सामायिक करते थे। भोजन वे अपने घर पर जाकर करते थे और अपने जीवन के अंतिम 'पच्चीस वर्षों में केवल दो बार जाकर भोजन कर लेने से अधिक कोई संपर्क घर से उन्होंने नहीं रक्खा।

भोजन और खान पान के सम्बन्ध में मास्टर साहब अस्वादव्रत के पूर्ण आग्रही थे। वे दो बार से अधिक तो भोजन करते ही नहीं थे। कभी एकाशन आदि भी करते थे। भोजन के समय जो कुछ थाली में आजाता था वही खा लेते थे, स्वयं अपनी ओर से कह कर खाने के लिए कभी नहीं बनवाते थे। पिछले वर्षो में दूसरों के यहां कभी भोजन करने के लिए नहीं जाते थे। वैसे दूध, दही और छाछ उनकी प्रकृति के अधिक अनुकूल पड़ते थे। जैन होने के नाते मांस-मद्य का तो प्रश्न था ही नहीं, वे रात्रि-भोजन भी कभी नहीं करते थे, यद्यपि पुस्तकालय के कार्य में व्यस्त होजाने के कारण प्रायः शाम हो जाती थी और भोजन के मामले में उनके और सूर्य के बीच में अक्सर कड़ी होड़ पड़ जाती थी। पहनावा भी उनका सारे जीवन भर बड़ा सादा और अल्पव्ययी रहा। वे आजीवन धोती या पजामा, कुर्ता और उसके ऊपर अचकन और पगड़ी ही पहनते रहे। पेन्शन हो जाने के बाद में ज्यादातर धोती कुर्ता ही पहनते थे और पुस्तकालय में गर्मी के मौसम में तो वे प्रायः केवल धोती ही पहने रहते थे, कभी-कभी धोती का आधा हिस्सा कंधों पर डाल लेते थे। जाड़े के मौसम में वे कभी टोपा और साफा भी बांध लेते थे। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे वैसे वे कपड़ों की संख्या में कमी करते गये। कपड़ों की संख्या में सादगी के साथ २ वे कपड़ों के सस्ते और टिकाऊपन तथा स्वदेशीपन के भी बड़े समर्थक थे। वे सदा ही जयपुर या चौमूं की हाथ बुनी हुई रेजी या दुसूती या सामान्य चौखाने के कपड़े का उपयोग करते थे जो द्वितीय युद्ध के पूर्व शायद चार या पाँच आने गज से अधिक की कीमत का शायद ही होता हो। जूते भी हमेशा स्थानीय बने हुये ही और देशी कट के ही पहनते थे। इस प्रकार उनका सारा खान-पान, पहनाव और रहन-सहन स्थानीय और सादा था तथा देशी धंधों वालों को रोजी पहुंचाने वाला होता था।

मास्टर साहब अपने दृष्टिकोण के अनुरूप आध्यात्मिक तथा भक्ति रस सम्बन्धी भजनों को सदा याद करते व गुनगुनाते रहते थे और उन्हीं के

भावों में लीन रहते थे और इस प्रकार वे शरीर से सदा ही भगवान का अर्थात् समाज का काम करते ही रहते थे साथ ही जबान से सदा भगवान का नाम लेते रहते थे वे वचन या काययोग तो साधते ही थे, साथ ही मनयोग की साधना में निरंतर प्रयत्नशील रहते थे। जब कभी वे सोते या दूसरों से बात चीत करते या पठन-पाठन में नहीं लगे होते थे, तब वे बराबर इस प्रकार के भजनों को गुन गुनाया करते थे—मेरी भावना की यह आकांक्षा–मैत्री भाव जगत में मेरा सब जीवों से नित्य रहे, दीन दुखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत बहे। तथा 'भगवन ! समय हो ऐसा जब प्राण तन से निकले, सुद्धात्मा हो मेरी अरू मोह मन से निकले', यह कड़ियां पुस्तकालय में आने वाले विद्यार्थियों तथा अन्य व्यक्तियों ने सैकड़ों ही बार उनसे सुनी होंगी।

मास्टर साहब का हृदय बड़ा करुणा पूर्ण था। वास्तव में उनके हृदय में करुणा का स्रोत ही बहता था। वे लोगों को दुखी देख कर विह्वल हो जाते थे और कोई भी करुणाजनक प्रसंग वे सुनते या कभी विद्यार्थियों को या अन्य लोगों को सुनाते तो वे गद्गद हो जाते थे। उनकी आंखों से आंसुओं की धारा बह निकलती थी। वे अभावग्रस्त तथा पीड़ित मानव की भौतिक तथा मानसिक सहायता और सहानुभूति तक ही सीमित नहीं रहते थे, बल्कि अपने शुद्ध और करुणापूर्ण हृदय के कारण वे उसके दुख और वेदना को स्वयं अनुभव करने लगते थे और उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते थे। आज के व्यापार और स्वार्थ प्रधान युग में उनकी यह वृत्ति अपवाद रूप ही मानी जायगी।

मास्टर साहब का अंग्रेजी का ज्ञान इन्टर तक था, लेकिन अध्ययन-काल में उनकी सहायक भापा फारसी और उर्दू रहने के कारण उनका हिन्दी भापा सम्बन्धी ज्ञान बहुत ही थोड़ा था और संस्कृत तो वे बिल्कुल जानते ही न थे। परन्तु जैसे-जैसे उनकी रुचि भक्ति, अध्यात्म और धर्म की ओर बढ़ती गई और पुस्तकालय सम्बन्धी कार्य का विस्तार होता गया उनका हिन्दी का तथा धर्म और दर्शन सम्बन्धी ज्ञान बढ़ता गया और इन विषयों के गूढ़ार्थ को वे समझने लग गये थे। यह सही है कि वे प्रचलित अर्थ में पंडित अथवा विद्वान नहीं हो पाये थे, लेकिन उन्हें अपने आध्यात्मिक विकास और अनुभूति के लिए जितनी जानकारी की आवश्यकता थी वह उन्होंने प्राप्त करली थी और पांडित्य–पूर्ण विद्वता यद्यपि उन्हें प्राप्त नहीं हुई लेकिन इसमें शक नहीं कि आध्यात्मिक ज्ञान और कर्तव्य बुद्धि उनमें बहुत विकसित हो गई थी और सच्चे अर्थ में उन्होंने ज्ञान और कर्म का समन्वय कर लिया था।

मास्टर साहब 'नेकी कर और नदी में डाल' वाले सिद्धान्त के पक्षपाती थे। वे इस बात का प्रयत्न करते थे कि यदि उनसे किसी की सहायता बन आवे तो उसका आभास भी दूसरों तक न पहुंच सके। साथ ही उनकी यह भी कोशिश रहती थी कि जिसे सहायता दी जाती हो उसे उसका भार या अहसान न लगे, और उसका आत्म-गौरव भी न घटे। वे या तो उसके पिता या निकट सम्बन्धी बनकर मदद करते या करवा देते या ऋण कह कर उसकी मदद करते जिससे यदि वह बाद में वापिस कर देता तो औरों के काम में रकम आ जाती और नहीं दे पाता तो उसके पास सहायता के रूप में रह जाती, किन्तु वापिस करने का प्रयत्न लेने वाला करता रहता। मास्टर साहब के अपने आर्थिक तथा अन्य साधन तो नगण्य से थे ही, लेकिन उनके परिचितों और सहायकों की संख्या और क्षेत्र बराबर बढ़ता गया और हजारों रुपया लोगों ने गुप्त सहायता के रूप में पुस्तकों के लिए, विद्यार्थियों के लिए, दुखी, रोगी और गरीबों के लिए दिया और वह किस प्रकार किन की मदद में, बिना जाति, धर्म, पेशे आदि के भेद-भाव के केवल वास्तविक जरूरत के आधार पर योग्य लोगों के पास पहुंच गया इसका ज्ञान या तो उनको होता था या सहायता पाने वाले को या शायद सहायता करने वाले व्यक्ति को भी थोड़ा बहुत होता हो।

मास्टर साहब सर्व धर्म समभाव के प्रति निष्ठाशील होने के साथ ही अपने संप्रदाय-धर्म के पूरे अनुयायी थे। वे किसी धर्म या सम्प्रदाय के प्रति द्वेष या हीनता का भाव नहीं रखते थे, और प्रत्येक धर्मानुयायी को अपने-अपने धर्म का अध्ययन करने और उसे पूरी तरह मानने की ही प्रेरणा देते थे, किन्तु साथ में वे स्वयं अपने परम्परागत धर्म सम्बन्धी आचार-विचार के ही आग्रही थे, उसमें उनकी श्रद्धा अडिग थी। उस क्षेत्र में उन्हें परीक्षा-प्रधानता की आवश्यकता नहीं लगती थी। इसी प्रकार आचार और व्यवहार में भी अपने सम्प्रदाय की परंपरागत रुढ़ियों को आग्रह पूर्वक मानते थे। छूआछूत, खान-पान आदि के मामलों में भी परंपरागत मर्यादा से आगे नहीं जाते थे। लेकिन उनके प्रेम और सहानुभूति का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत था, इसमें वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय जाति का बन्धन नहीं था, वे प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और सहायता की भावना रखते थे तथा शक्ति और साधनों के अनुसार मुक्त और उदार भाव से सहायता करते थे।

मास्टर साहब का सर्वश्रेष्ठ स्मारक—

श्री सन्मति पुस्तकालय

निश्चय ही श्री मोतीलाल जी के जीवन का सबसे सच्चा और सबसे बड़ा स्मारक श्री सन्मति पुस्तकालय है, जिसके संस्थापक, व्यवस्थापक, लेखक और भृत्य-सब कुछ मास्टर साहब ही थे। प्रख्यात अमेरिकन निवंधकार और विचारक इमर्सन ने एक स्थान पर लिखा है कि संस्था अपने संस्थापक की केवल विराट छाया है, यह कथन मास्टर साहब और उनकी संस्था पर विशेष-रूप से लागू होता है, क्योंकि श्री सन्मति पुस्तकालय प्रत्येक दृष्टिकोण से मास्टर साहब के विचारों और कार्यों की छाया ही है।

जैसा पहले कहा जा चुका है इस पुस्तकालय का आरंभ मास्टर साहब ने अपनी अल्प आय के निश्चित अंश ८-१० रुपया मासिक की पुस्तकें खरीद कर सन् १९१६-१७ के आस पास किया था। उनके एक शिष्य श्री लादूराम जी लुहाड़िया का कहना है कि मास्टर साहब ने पहले दिन बड़े मन्दिर के ऊपर के तिबारे में (जहां आज भी यह पुस्तकालय स्थित है) एक कोने की छोटीसी आलमारी में दस पंद्रह पुस्तकें लाकर रक्खीं और उन्हें पहली पुस्तक प्रद्युम्न चरित्र पढ़ने को दी, तब से उन्हें नियमित रूप से प्रतिदिन पुस्तक पढ़ने-स्वाध्याय करने का शौक लग गया।

मास्टर साहब ने उस समय अपनी पुस्तकों का विभाजन चार खण्डों में किया था। पहला 'क' विभाग जिसमें दिगम्बर जैन धर्म की पुस्तकें थीं, दूसरा 'ख' विभाग जिसमें श्वेताम्बर जैन धर्म की पुस्तकें थीं, तीसरा 'ग' विभाग जिसमें वैदिक तथा अन्य धर्मों की पुस्तकें थीं, चौथा 'घ' विभाग जिसमें लौकिक कथा-कहानी, उपन्यास आदि की सामान्य पुस्तकें थीं। यही विभाजन-क्रम उनका आजीवन चला और आज भी पुस्तकालय की पुस्तकों का क्रम लगभग वही है। स्पष्ट ही यह क्रम किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं है और आधुनिक पुस्तकालय-विज्ञान के अनुसार निरथंक है, किन्तु मास्टर साहब के जीवन-काल में उन्हें अपने पाठकों के लिए उपयुक्त पुस्तकें छांटने, और देने तथा खरीद कर रखने में बहुत उपयोगी लगा और वे पुस्तकों की संख्या हजारों तक पहुँच जाने पर भी इसी क्रम से पुस्तकों को रखते रहे और उन्हें नगर की जनता को पठन-पाठन के लिए देते रहे। हजारों पुस्तकें प्रतिवर्ष वे लोगों को पढ़ने को देते रहे और हजारों ही वे प्रति वर्ष खरीदते रहे।

मास्टर साहब का पुस्तकें खरीदने का क्रम भी अपना अलग ही था। वे इस बात के फेर में कभी नहीं पड़े कि उनका पुस्तकालय ज्ञान की अमुक शाखा या अमुक श्रेणी या वय के पाठकों की आवश्यकता और अभिरुचि की पूर्ति में

विशेषता प्राप्त करे। उन्होंने कभी यह ध्येय सामने नहीं रक्खा कि उनके पुस्तकालय में अमुक विषय या धर्म की पुस्तकों का तो सर्वांग पूर्ण संग्रह हो ही जाय, वलिक वे पुस्तकालय में पुस्तकें लेने आने वाले बालक, किशोर, युवा वृद्ध, स्त्री या पुरुप की आवश्यकता और अभिरुचि के अनुकूल के समय २ पर यथा साधन वरावर पुस्तकें खरीदते रहे। उनके जैन धर्मावलंबी होने के कारण आरंभ में जैन लोग अधिक आते थे तो उन्होंने आरंभ में वे पुस्तकें अधिक खरीदीं। फिर वैदिक लोग भी अधिक आने लगे तो उक्त धर्मों और संप्रदायों की पुस्तकें खरीदीं और फिर मुसलमान और ईसाई सज्जन भी आने लगे अथवा इन सब धर्मों की पुस्तकों में लोगों की रुचि प्रतीत हुई तो इन धर्मों के धर्म-ग्रन्थ भी उन्होंने काफी संख्या में खरीद लिये। साथ ही वे इस बात को भी जानते थे कि आम तौर पर लोगों की रुचि कथा-कहानी, उपन्यास आदि की ओर अधिक रहती है और एक खास उम्र में—किशोर अवस्था में लोगों को इस तरह की पुस्तकों का नशा सा रहता है तो उन्होंने हजारों की संख्या में इस प्रकार की पुस्तकें भी पुस्तकालय में खरीदी, क्योंकि वे जानते थे कि इस प्रकार की पुस्तकें चाहे ज्ञान-वृद्धि और तत्वदृष्टि के लिहाज से उपयोगी न हों किन्तु जनता को आकर्षित करने के लिए आवश्यक हैं और एक उम्र में इनकी भूख सर्व-व्यापक है। इसी प्रकार वे इस बात के भी कायल न थे कि एक पुस्तक की एक प्रति ही काफी है, वे विना इस बात का विचार किये कि ऐसा करने से पुस्तकालय में विविध पुस्तकों की संख्या सूची में कम रहेगी एक पुस्तक की दस-बीस नहीं वलिक सौ-सौ और डेढ-डेढ़ सौ प्रतियां भी खरीद लेते थे और उनका विद्यार्थियों, युवकों तथा वृद्धों में खूब प्रचार करते थे। इस प्रकार मास्टर साहब ने अपने पुस्तकालय के लिए पुस्तकें खरीदने, उनकी सूची रखने आदि में केवल अपने पाठकों की रुचि, आवश्यकता, उनकी नैतिक उन्नति का तथा उन्हें पुस्तकें निकाल कर देने में अपनी सुविधा और सरलता का ही ध्यान रक्खा था और अपनी सामान्य बुद्धि का ही उपयोग किया था, इसमें पुस्तकालय-विज्ञान और तत्संबन्धी आधुनिक सिद्धांतों का उपयोग नहीं किया। उनके पास उन सब के लिए न समय था और न साधन ही थे।

पुस्तकें देने के सम्बन्ध में भी उनके नियम और तरीके विल्कुल सरल व्यवहारिक और इसलिए कुछ नये और अपने ही थे। पुस्तकालय की सदस्यता के लिए कोई प्रवेश-शुल्क, डिपाजिट या मासिक अथवा वार्षिक चंदा उन्होंने कभी नहीं रक्खा। उन्होंने पुस्तकें देने में न किसी दूसरे की जमानत चाही और न पुस्तकें देने में एक-दो या दस पांच का या लौटाने में सप्ताह, पक्ष या माह का कोई नियम या वंधन ही रक्खा। नये से नये आदमी को वे उसके निवास स्थान

का पूरा पता लिखकर उसकी आवश्यकता और अपनी सुविधानुसार पुस्तकें दे देते थे। यह संभव था कि वे किसी को पुस्तक देने से बिल्कुल इन्कार कर देते बहुत छोटे बालक जो भी अभी भली-भांति पढने और समझने भी नहीं लगे थे, इस कोटि में आजाते थे और यह भी होता था कि कोई उनके पास से आठ-दस पुस्तकें तक ले जाते थे—इस कोटि में वे लोग आते थे जो पुस्तकालय से बहुत दूर-दूसरे गांव या कस्बे के रहने वाले थे और जल्दी जल्दी पुस्तकें लेने नहीं आ सकते थे।

पुस्तकें लौटाने के सम्बन्ध में जैसा ऊपर कहा जा चुका है समय या अवधि का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। लोग अपनी सुविधा के अनुसार पुस्तकें पढ़कर वापिस ले आते थे। यदि कुछ पुस्तकें ऐसी होती जिन की मांग अधिक होती तो पुस्तकें देते समय ही उन्हें जल्दी वापिस करने की ताकीद कर दी जाती थी, फिर भी बहुत से लोग प्राय: पुस्तकें लौटानें में देरी करते थे या प्रमादवश उन्हें केवल ले जाकर रख लेते थे, न स्वयं पढते थे न औरों के उपयोग में आने के लिए लौटाते ही थे। ऐसे लोगों के लिए हरेक पुस्तकालय में चपरासियों की व्यवस्था रहती है अथवा समय की अवधि के बाद लाने वालों पर अर्थ-दण्ड का नियम रहता है लेकिन श्री सन्मति पुस्तकालय में दोनों ही व्यवस्थाएं नहीं थीं। न तो इस पुस्तकालय का कोई चपरासी तकाजा करने आता था और न देरी से लानें वाले पर कोई जुर्माना ही किया जाता था, बल्कि मास्टर साहब स्वयं सुबह के एक दो घंटे अथवा आवश्यकता पड़नें पर संध्या को एकाध घंटा लगाते थे और वे लोगों के घरों पर तकाजा करने पहुंच जाते थे। यही नहीं वे स्वयं इस भ्रमण में लोगों को पढ़ने को नई पुस्तकें भी दे आते थे और पुरानी ले भी आते थे। इस प्रकार ज्ञान की इस गंगा को लोगों के ठेठ घर तक पहुंचा देने का भागीरथ-कार्य करने से भी मास्टर साहब नहीं चूकते थे।

इस तरह की सतयुगी व्यवस्था में स्वाभाविक था कि लोग पुस्तकें रख-लेते, हजम कर जाते और उन्हें न लौटाते। हिसाब लगाने से मालूम हुआ है कि गत तीस वर्षो में कम से कम दस हजार पुस्तकें इस पुस्तकालय से गायब हो गई हैं। यह भी पता चला है कि लोगों ने खास कर विद्यार्थियों ने कभी २ उन चोरी की पुस्तकों के बल पर अपने और पुस्कालय भी चलाये हैं। इस सब को जानते और समझते हुए भी मास्टर साहब ने अपने तरीके को बदलने से इन्कार कर दिया। उनका कथन था कि एक चपरासी को रखने में मुझे कम से कम पांच सौ—छः सौ रुपये वार्षिक का व्यय करना पड़ेगा, इसके बजाय मैं छः सौ रुपया प्रतिवर्ष की पुस्तकें अधिक खरीदूंगा और इस मूल्य की पुस्तकें खो भी जायं तो मैं घाटे में नहीं रहूगा, क्योंकि पुस्तकें तो जहां भी रहेंगी, चाहे

वे पैसा देकर खरीदी गई हों या कहीं जाकर रखदी गई हों, पढ़ने के काम में आवेंगी ही और उन से पढ़ने वाले को लाभ पहुँचेगा ही। इस के अलावा मैं स्वयं लोगों के पास पहुंचने का, पुस्तकें वापिस लाने का, पुस्तकें लौटाने की भावना जागृत करने का और अपनी जिम्मेदारी समझाने का प्रयत्न करता ही हूं। इससे मास्टर साहब की इस उच्च धारणा का कि, जो कुछ है समाज का है–मेरा कुछ नहीं–पूरा पता लगता है और निश्चय ही तीस वर्ष में दस हजार पुस्तकों का नुकसान–जो रुपयों में दस हजार से अधिक नहीं होगा, तीस वर्ष में पांच सौ रुपये वार्षिक के चपरासी को दी जाने वाली रकम से कम ही होता है, बल्कि यों मानना चाहिये कि मास्टर साहब ने पांच हजार रुपये की बचत ही की और समाज में अगर जागृति और ईमानदारी की भावना जागृत हो तो उन दस हजार पुस्तकों में से अधिकांश वापिस भी आ सकती हैं और जहां भी वे हैं और रहेंगी पढ़ने वालों को बराबर लाभ पहुंचाती रहेंगी।

हो सकता है कि समाज में व्यवस्था और अनुशासन के समर्थक इस प्रकार की व्यवस्था या दर असल व्यवस्था रहितता (?) पर नाक भौं सिकोड़ें लेकिन वास्तव में मास्टर साहब अपनी सरल और सतयुगी धर्म वृत्ति के कारण उस समाज-संगठन के समर्थक थे जो बाहरी अनुशासन और दण्ड पर नहीं बल्कि आंतरिक अनुशासन अथवा पूर्ण स्वशासन पर आधारित है, जिसे आधुनिक परिभाषा में अहिंसक अराजकवादी समाज व्यवस्था कहा जा सकता है। इस दृष्टि से मास्टर साहब का यह प्रयोग विशेष रूप से अध्ययन योग्य है।

पुस्तकालय का स्थान भी इस संस्था की भांति ही अज़ीब था। हल्दियों के रास्ते में स्थित जैन मन्दिर के बाहरी भाग के एक तिबारे की एक छोटी सी अल्मारी में उन्होंने कुछ दर्जन पुस्तकों से इस पुस्तकालय की स्थापना की थी, वे तीस वर्ष तक इस पुस्तकालय को इसी खुले तिबारे में चलाते रहे। यह ऐसा स्थान है जिसमें एक भी कमरा नहीं है और जो दो ओर से बिल्कुल खुला है और यह स्थान भी मुश्किल से तीन सौ वर्ग फुट के क्षेत्रफल का होगा इस एक तिवारे में वे तीस वर्ष तक किताबें देते रहे और जैसे २ किताबें बढ़ती गई इसमें अल्मारियां दीवारों में बनाते रहे, जब दीवार में अल्मारी बनने की गुंजाइश खत्म हो गई तो उन्होंने इसमें लकड़ी की अल्मारियां रखना शुरू किया और अंत में यह सारा तिवारा अल्मारियों से इस प्रकार भर गया कि इसमें पचास आदमियों के भी बैठने की गुंजाइश नहीं रही, केवल अल्मारियों में पुस्तकों को ढूंढ़ निकालने का काम भी आसान काम नहीं रहा, क्योंकि न केवल अल्मारियों को खोलना असुविधा पूर्ण था, बल्कि उन अल्मारियों में पुस्तकें

भी ऐसी ठसाठस एक के ऊपर एक भरी रहती थीं कि इच्छित पुस्तक निकालना मास्टर साहब के अलावा किसी दूसरे के लिये, केवल कारेदारद ही नहीं कारे नामुमकिन ही था। लेकिन मास्टर साहब उसी तिबारे और अलमारियों के उसी झुण्ड में शांति पूर्वक जमे रहे, उन्होंने कभी पुस्तकालय के लिए भवन बनाने व इस काम के लिए धन प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि इसके विपरीत अगर उनके साथी या शिष्य इस तरह का सुझाव भी रखते जो वे भवन के बजाय रुपये की उपयोगिता पुस्तकें अधिक खरीदने में मानते थे और जो कुछ उन्हें प्राप्त होता इसी काम में लगा देते थे।

मास्टर साहब को पुस्तकों से बालकों की भांति स्नेह था, वे उन्हें प्रेम पूर्वक खरीदते, उन पर कागज का गत्ता चढ़ाते, उन्हें सावधानी से रखते और लोगों को पढ़ने देते तो उन्हें सावधानी से रखने की ताकीद करते। उन्होंने अपने जीवन में हजारों पुस्तकों पर अपने हाथों से गत्ता चढ़ाया होगा। वे दिन में कम से कम दो तीन घंटे बराबर यह काम करते थे। बरसात के मौसम में जब बादल होते तो आलमारियों में सील घुस जाने और किताबों के खराब हो जाने की आशंका से उन्हें नहीं खोलते थे।

संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि मास्टर साहब का लगभग समग्र व्यक्तित्व श्री सन्मति पुस्तकालय में केन्द्रित हो गया था, उनकी भावनाएं और विचार इसके साथ गुंथ गये थे। यही उनकी वास्तविक संतान थी और यही उनका सच्चा उत्तराधिकारी। मास्टर साहब आज अपने पूर्व पार्थिक शरीर से मुक्त होकर भी इस पुस्तकालय के कण २ में व्याप्त हैं। यही उनका सच्चा और सर्वोत्तम स्मारक है। इसी की सुरक्षा और उन्नति के द्वारा जयपुर के नागरिक मास्टर साहब का उनके ऊपर जो गुप्त ऋण हैं उससे उऋण हो सकते हैं तथा उनकी समाजहित की सहज भावना के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं।

इस समय श्री सन्मति पुस्तकालय की सूचियों के अनुसार पुस्तकों की संख्या १७७७७ हैं। इसमें १६३६ पुस्तकें दिगम्बर जैन धर्म की, ७१० पुस्तकें श्वेताम्बर जैन धर्म की, ३४४६ पुस्तकें वैदिक धर्म तथा अन्य धर्मों की तथा ८६८५ पुस्तकें कथा-कहानी उपन्यास आदि सम्बन्धी हैं। ये पुस्तकें क, ख, ग और घ श्रेणी की हैं इनके अतिरिक्त लगभग चार हजार पुस्तकें एस (S) श्रेणी की हैं जो संभवतः मास्टर साहब की अपनी आय में से खरीद कर पुस्तकालय में रक्खी गई हैं। इस गिनती में पुस्तकों के नामों की संख्या ही शामिल है, पुस्तकों की संख्या शामिल नहीं है–अधिकतर पुस्तकों की एक से अधिक

प्रतियां है और कुछ की तो जैसा ऊपर कहा जा चुका है सौ-ड़ेढ़ सौ तक प्रतियाँ हैं। ऐसी स्थिति में पुस्तकों की कुल संख्या पैंतीस हजार से कम नहीं हैं। इनमें दस हज़ार पुस्तकें ऐसी भी अनुमानित की जायं जो इन तीस सालों में पुस्तकालय से खोई जा चुकी हैं, तब भी यहाँ की पुस्तकों की संख्या पच्चीस हजार से कम नहीं है। इनमें बहुत सी पुस्तकें ऐसी भी हैं जिनके संस्करण समाप्त हो चुके हैं और कुछ तो अलभ्य भी हैं।

पुस्तकालय की वर्तमान व्यवस्था मास्टर साहब द्वारा ही निर्मित एक ट्रस्टी मंडल के हाथ में है जिसके सदस्य १. श्री गेंदीलालजी गंगवाल, २. श्री भंवरलालजी पाटनी, ३. श्री निर्मलकुमारजी हाँसूका, ४. श्री कमलचंदजी सोगानी, ५. श्री प्रकाशजी हैं, इनमें श्री प्रकाशजी का लगभग दो वर्ष पूर्व देहांत हो चुका है, श्री गेंदीलालजी गंगवाल प्रबन्ध ट्रस्टी हैं। यह ट्रस्टी मंडल अपनी स्वल्पशक्ति और साधनों के अनुसार इस संस्था को यथावत् जीवित रखने में प्रयत्नशील है। यह सही है कि जब तक मास्टर साहब जैसा सर्व समर्पणशील व्यक्तित्व इस संस्था में न आवे, तब तक यह पहले की भांति सजीव और सक्रिय नहीं हो सकती, लेकिन ऐसे व्यक्तित्व के अभाव में भी यह तो वांछनीय और आवश्यक ही है कि यह संस्था एक व्यवस्थित और आधुनिक पुस्तकालय के रूप में जयपुर के नागरिकों की अधिक सेवा करे, इसमें जनता और सरकार दोनों की सहायता और सहयोग आवश्यक है। संस्था व्यक्ति से ही बनती है, लेकिन व्यक्ति का अभाव हो जाने पर संस्था नष्ट न हो—यह जिम्मेदारी तो समाज और शासन की है ही।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है पुस्तकालय आरम्भ से ही दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर में रहा है। लेकिन पुस्तकों की संख्या अधिक होने के कारण स्थान की कमी मास्टर साहब के जमाने में ही तीव्रता से अनुभव होने लगी थी। इस कमी को दूर करने के लिये प्रयत्न भी यदा कदा चलते थे पर नजर में कोई उपयुक्त स्थान की व्यवस्था नही हो सकी। गत वर्ष अर्जुनलाल सेठी नगर में २५०० वर्ग गज का एक प्लाट राजस्थान सरकार द्वारा इस लोकोपकारी प्रवृत्ति के लिये निशुल्क प्रदान किया गया है। पुस्तकालय भवन का नक्शा बन चुका है और उसका शिलान्यास आगामी ३१ मई को मास्टर साहब के पुराने तथा प्रिय शिष्य और राजस्थान हाईकोर्ट के वर्तमान मुख्य न्यायाधीश श्री दौलतमल भंडारी के द्वारा कराये जाने का निश्चय किया गया है।

———

संस्मरण

श्रौर

श्रद्धांजलि

'मोती' और 'लाल' से भी बहुमूल्य और सच्चे अर्थ में 'मास्टर'

(श्री गोविन्दप्रसाद 'श्रीवास्तव')

मास्टर मोतीलालजी संघी निस्सन्देह अपने समय के महापुरुषों में से थे। उनके उच्च विचारों और भावनाओं की छाप ज्यों की त्यों जयपुर के शिक्षित जगत पर विद्यमान है। उनका समस्त जीवन परोपकारमय था। परोपकार ही उनके जीवन का लक्ष्य था। श्री सन्मति पुस्तकालय उनके परोपकारमय जीवन तथा शिक्षा प्रेम की जीती जागती स्मृति है।

उनकी कृतियाँ "मोती" और "लाल" से भी बहुमूल्य हैं और वे सच्चे अर्थ में 'मास्टर' (स्वामी) थे। आध्यात्मिक जगत में मास्टर शब्द का अर्थ वह गुरु है जिसको अपनी इन्द्रियों, मन तथा वाणी पर पूर्ण अधिकार हो। उनके संपर्क से मुझे जो लाभ हुआ उसके लिये मैं सदैव उनका आभार मानता रहूँगा।

मानव का सेवक ही सच्चा ईश्वर-भक्त

(श्री गफ्फारअली)

किसी महान् पुरुष की जीवनी लिखने का उद्देश्य जहां एक तरफ यह होता है कि हम उसके प्रति अपना कर्तव्य पालन करें तथा श्रद्धा प्रकट करें, वहां दूसरी तरफ यह भी होता है कि उस महान् पुरुष की जीवनी वर्तमान व भावी पीढ़ी के लिए शिक्षाप्रद हो सके। किन किन परिस्थितियों में किस प्रकार मनुष्य को कार्य करना चाहिये, इसका उत्तर हर क्षेत्र के महान् पुरुषों की जीवनी से मिल सकता है और मनुष्य खुद ठोकरें खाने के बजाय दूसरों के अनुभवों से लाभ उठा सकता है।

एक साधारण व्यक्ति की दृष्टि में मास्टर मोतीलालजी केवल एक स्कूल मास्टर थे जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग बच्चों को शिक्षा देने में व्यय किया, पर वस्तु स्थिति इससे भिन्न है। उन्होंने जीवन का एक ऐसा

दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसकी जानकारी वर्तमान परिस्थिति में अत्यन्त आवश्यक है। सम्भवत: जैन समाज के लोग जिसमें वे पैदा हुए थे यह समझते हों कि वे एक "बलन्द पाया" जैन थे जिन्होंने जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन को व्यतीत किया था पर मेरा तो यह विश्वास है कि हर धर्म का व्यक्ति जो उनके नजदीक जाता था यह अनुभव करता था कि वे अन्य किसी धर्म की तुलना में उसी के धर्म के अधिक निकट है। यह एक ऐसी विशेषता है जो एक मनुष्य को साधारण व्यक्ति से ऊंचा उठा देती है। वास्तव में महान् व्यक्ति किसी धर्म विशेष का अनुयायी नहीं होता, वह तो सर्व सामान्य 'धर्म' या मानव धर्म का ही अनुयायी होता है।

श्री मोतीलालजी के प्रेम तथा अथाह उदारता ने उनको सम्प्रदायों के सीमित क्षेत्र से निकाल कर एक ऐसे विशाल क्षेत्र में पहुँचा दिया जहां वे एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से अन्तर करना पाप समझते थे। जब कभी मैं उनसे मिलता मेरी दृष्टि उनके सम्मान में स्वयं झुक जाती थी और मैं मौन होकर उनके सम्मुख खड़ा रहा करता था। वे मुझे अक्सर कहा करते थे कि खुदा की याद दिल में रक्खो और नमाज पढ़ा करो। एक दिन वे मुझ से कहने लगे कि "काबे" की सीमा में किसी प्राणी की जान लेना पाप समझा जाता है, ऐसा क्यों है ? मैं तो चुप रहा, पर वे स्वयं बोले—ईश्वर किसी की भी जान लेना पसन्द नहीं करता। जब कभी वे किसी भी धर्म के मानने वाले से मिलते तो वे उससे कहते थे कि तुम अपने धर्म का पालन करो। मैंने उन्हें कभी जैन धर्म या किसी अन्य धर्म की प्रशंसा या बुराई करते नहीं सुना। उनका यह खयाल था कि सब धर्मों के मूल सिद्धान्त एक से हैं मगर लोग अपने फायदे के लिए मतभेद पैदा करते हैं। इसी दृष्टिकोण का, जो उन्होंने अपने जीवन में पेश किया, प्रचार भारत की वर्तमान स्थिति में अत्यन्त आवश्यक है। अगर भारत साम्प्रदायिकता की आग से मुक्त न हो सका तो सम्भव है कि भारत की एकता छिन्न-भिन्न हो जावे और आजादी ने हमारे लिये प्रगति के जो मार्ग खोले हैं वे सब बन्द हो जायें।

मोतीलालजी अपने जीवन में जिन सिद्धान्तों का पालन व प्रचार करते रहे अगर वे सिद्धान्त भारत में क्रियात्मक रूप से स्वीकार कर लिये जावें तो भारत भूमि से सम्प्रदायों व धर्मों के झगड़ों का अन्त हो जाये व हम संसार के अन्य राष्ट्रों के सम्मुख सगर्व सिर ऊंचा कर सकें। सत्य व अहिंसा के पालन करने का प्रचार गांधीजी अपने जीवन में करते रहे मगर मास्टर मोतीलालजी का यह विचार था कि ये दोनों सिद्धान्त प्रत्येक धर्म में वर्तमान हैं। अगर कोई

व्यक्ति अपने धर्म का पालन करे तो वह सत्य व अहिंसा का अपने आप पुजारी हो जायगा। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रख कर वे प्रत्येक व्यक्ति से यह कहा करते थे कि तुम्हें अपने धर्म का पालन करना चाहिये।

वे प्रायः कहा करते थे कि मनुष्य की सेवा ईश्वर की सेवा है। किसी का दिल दुखाना सबसे बड़ा पाप है। अपने जीवन में वे सदैव यह ध्यान रखते थे कि उनके किसी कार्य और वचन से किसी को कष्ट न हो। इसी जज्बे के अनुसार वे बहुत कम बातचीत करते थे और जब कभी बातचीत करते तो अत्यन्त नम्रता पूर्वक वे धीमी आवाज में करते थे। हर विचार को इस तरह व्यक्त करते थे कि किसी के दिल को ठेस न पहुंचे। एक दिन वे कहने लगे कि तुमने अबू बिन आदम का किस्सा सुना है। मैं अपनी आदत के अनुसार चुप रहा, तो वे पूरा किस्सा सुना कर मुझसे कहने लगे कि तुम मनुष्य मात्र की सेवा करो तो खुदा तुम से खुश होगा।

मास्टर साहब ने जीवन भर बाहरी शान-शौकत से घृणा की और उन्होंने अपनी आय का अधिकांश भाग दरिद्र विद्यार्थियों, अनाथों व विधवाओं पर व्यय किया था और इस तरह लोगों की सहायता करते थे कि सहायता लेने वालों को कभी हीन भावना का बोध न हो। एक हाथ से देते थे तो दूसरे हाथ को खबर भी नहीं होती थी। पेंशन होने पर जब मैंने उनसे यह कहा कि अब तो आपके लिये बड़ी दिक्कत हो जायगी, तो कहने लगे जहां तक व्यस्तता का प्रश्न है, मेरे सामने बहुत काम है। रहा आय का प्रश्न तो उसके सम्बन्ध में मुझ पर पेंशन का कोई असर नहीं है। मैं प्रायः अपनी आय का आधा भाग पुस्तकालय पर खर्च करता था। अब मैं यह समझ लूंगा कि पुस्तकालय के लिये मुझे कहीं अन्य स्थान से रुपयों का प्रबन्ध करना है। प्रकट में तो यह सिद्धांत सामान्य मालूम होता है पर इस सिद्धात के मानने वाले जीवन भर प्रसन्नचित्त रह सकते हैं। अपनी आय से अपना व्यय आधा रखना एक ऐसा सुन्दर सिद्धांत है जिससे मनुष्य की बहुत सी मुसीबतें दूर हो सकती हैं और सर्व साधारण इस सिद्धांत का पालन कर अपने जीवन को आराम से व्यतीत कर सकते हैं।

बलिहारी गुरुदेव जिन, गोविन्द दिया मिलाय

(श्री भंवरलाल पाटनी)

मास्टर साहब मोतीलालजी राजस्थान की एक विमल विभूति थे। वे ऐसी मिट्टी से बने हुए थे कि उनमें ख्याति प्राप्त करने की तनिक भी भावना न थी। आत्म-श्लाघा और ख्याति-लाभ से संसार के महापुरुष भी बहुत कम बच पाये हैं, पर मास्टर साहब ऐसे महानुभाव थे, जिनको सदा अपने कर्त्तव्य-कर्म से ही काम था, नाम से नहीं। उन्होंने सहस्रों दीन और अनाथ छात्रों को सहायता देकर पढ़ाया। वे दीन छात्रों के लिए पुस्तक, फीस आदि का ही प्रबन्ध नहीं करते थे, अपितु आवश्यकता पड़ने पर वे उनके लिए भोजन, वस्त्र आदि की भी समुचित व्यवस्था करते थे। ज्ञान-दान को ही वे महान दान समझते थे। **वे सम्यक् दृष्टि थे उनकी दृष्टि में जैन और जैनेतर के बीच कोई अन्तर न था।** शिक्षा-प्रचार और सन्मार्ग-प्रदर्शन ही उनके जीवन का ध्येय था। समर्थ व्यक्तियों के हृदय को आकर्षित करना, उनसे सहायता प्राप्त करना, फिर उस सहायता को सम्यक् रूपेण असमर्थ छात्रों की सहायतार्थ वितरण करना, यह काम उन जैसे कर्मठ और त्यागी पुरुष का ही था।

श्री सन्मति पुस्तकालय के द्वारा उन्होंने उपन्यासों के संसार में धार्मिक वातावरण फैलाया है। जिन लोगों को धर्म से रुचि न थी, उनको वे उपन्यास के साथ धार्मिक पुस्तक भी देते थे और समय-समय पर वे जाच भी करते रहते थे। मेरे जीवन पर तो मास्टर साहब की पूरी-पूरी छाप है। यदि उन जैसा व्यक्ति पथ-प्रदर्शन न करता तो मैं उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लाभ से वंचित ही रहता। मास्टर साहब से मुझे धार्मिक शिक्षा भी पूर्णरूप से प्राप्त हुई। मेरा रोम-रोम मास्टर साहब के प्रति आभारी है। मैंने मास्टर साहब को सदा मनुष्य के रूप में नहीं, देवता के रूप में देखा है और मैं तो कवि के इस दोहे में पूर्ण विश्वास करता हूँ—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरुदेव जिन, गोविन्द दिया मिलाय॥

महाप्राण मास्टर साहब

(श्री भंवरमल सिंघी)

उपकार को पहचानना और उपकारी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना मनुष्य का अपरिहार्य कर्तव्य है, तथापि उपकृत होना भला किसे अच्छा लगता है ! जीवन में ऐसी परिस्थितियां आएं कि आदमी की विवशता उसे किसी के उपकार का मुखापेक्षी बनने को वाध्य करे, इससे बड़ा दुर्भाग्य मनुष्य–जीवन में और क्या हो सकता है ? उपकार से अपेक्षा की पूर्ति हो जातो है, पर वह जीवन के लिए एक भार स्वरूप वन जाता है।

मोतीलालजी मास्टर साहव ने सैकड़ों—हजारों विद्यार्थियों के लिए जो सहायता की और करवाई, उसे उपकार की संज्ञा देनी हो तो दीजिए, पर उनका उपकार कभी किसी के जीवन में भार नहीं वना, जीवन की सहज स्वभाविक आत्मचेतना के विकास में वाधक नहीं बना। उपकार की संज्ञा भी आज भले ही हम उनके कार्य को दे दें, परन्तु जिस समय हम उपकृत हुए—मैं अपनी ही वात कहता हूँ—मास्टर साहव के मन में तनिक भी उपकार-भावना नहीं देखी और उनका व्यवहार ऐसा होता था कि मां के वात्सल्य को उपकार माने, तो उनके स्नेह को भी उपकार कहें।

उपकारी के पास लोग हाथ फैलाए पहुंच जाते हैं–जीवन की विवशता उन्हें ढकेलकर वहां पहुंचा देती है, पर मास्टर साहव को मैंने योग्य और होन-हार विद्यार्थी की विवशता को दूर करने के लिए स्वयं पहुंचते देखा है। बीस-पच्चीस वर्ष पहले की वातें याद आती हैं तो आज भी कलेजा धक्-धक् करने लगता है, कुल दस रुपयों की कितावों के अभाव में मां-भारती के कितने होन-हार लाल विद्यालय के द्वार तक पहुंच-पहुंच कर रह जाते, अगर मास्टर साहव का सहारा उन्हें न मिला होता ! जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आज मास्टर साहव का सहारा पा अपने पैरों पर खड़े हुए जो हजारों व्यक्ति चमक रहे हैं, वे बुझ गए होते, अगर मास्टर साहव न हुए होते। ये व्यक्ति मास्टर साहव के सजीव अभिनन्दन हैं।

जयपुर के विद्यार्थी-जगत् में उनकी सेवाओं की ज्योति हमेशा चम-कती रहेगी। वे एक महाप्राण जैन थे, अपना समस्त जीवन उन्होंने विद्या प्रचार में लगा दिया था। अकेले व्यक्ति ने सन्मति पुस्तकालय का सारा कार्य

सम्हाल लिया, क्योंकि वृद्धावस्था तक वे एक श्रमिक की तरह पाठकों के घर से किताब वापस लाने और किताबों पर पुराने अखबारों के गत्ते चढ़ाने का काम भी घंटों तक कर सकते थे। उनकी सी लगन और साधना जिस जीवन में आजाय, वह सचमुच धन्य होगा ही।

क्या आप विश्वास करेंगे कि वे बीच–बीच में कालेज में जाकर प्रिन्सिपल या दूसरे अधिकारी से पूछ लिया करते थे कि फीस न दे सकने के कारण किसी विद्यार्थी का नाम तो नहीं कट गया है या वह परीक्षा में सम्मि-लित होने से तो नहीं वंचित रह जायगा ? ऐसे छात्रों के नाम पर जो बकाया होता वह या तो प्रिन्सिपल से कहकर वे माफ करवा देते थे या खुद जमा करा देते थे। बहुत से विद्यार्थियों को शायद आज तक पता नहीं होगा कि उनकी फीस किसने और कब दी ?

वे स्वयं एक अध्यापक थे, विद्यार्थियों की कठिनाइयों से पूर्णतया अवगत थे। न मालूम कितने छात्रों को उन्होंने ट्यूशन पर लगा दिया था जिसके बिना वे कभी अपनी पढ़ाई जारी नहीं रख सकते। कितने विद्यार्थियों को भोजन, वस्त्र और रहने की जगह आदि का प्रबन्ध कराने में उन्होंने मदद की, इसी प्रकार कितनी विधवाओं को दु:ख-दैन्यपूर्ण अवस्था में मदद पहुंचा कर उनकी 'जीवन-रक्षा की। इस एक महाप्राण व्यक्ति ने न मालूम अपने योग से कितने और महाप्राण उत्पन्न किए। एक स्कूल की साधारण मास्टरी करने वाला व्यक्ति, जिसका मासिक वेतन शायद ४०), ५०) रहा होगा, इतना सब कार्य कैसे कर सका, इसका समाधान सिवा इसके और क्या हो सकता है कि उसके त्याग और सेवा-वृत्ति ने कितने ही दूसरे लोगों के हृदय में सेवा-भावना जागृत की और मास्टर साहब के माध्यम से वे भी इस अप्रतिम जीवन-साधना में सम्मिलित होने के भाग्यवान हुए। मास्टर साहब ने एक दिन एक रुक्का लिखकर मुझे एक सज्जन के पास भेजा और उस रुक्के को देखकर जिनके पास मैं भेजा गया था उन्होंने मुझ जैसे एक साधारण विद्यार्थी की मदद करने के अवसर को अपने "शुभ कार्यों का उदय" कहा। मुझे सहायता तो मिली ही, पर दो महाप्राण व्यक्तियों के बीच को जीवन-सूत्र देखने का महत् अवसर भी मिला। इस प्रकार न जाने वे कितने लोगों के 'शुभ कार्यों' में भी प्रेरक और सहायक बने। 'सहायतार्थ आनेवालों' के सहायक और 'सहायकों' के भी सहायक !

मोतीलालजी मास्टर साहब का व्यक्तित्व काल-स्रोत की चपेटों से बचकर मेरे सामने आज भी उसी प्रकार मौजूद है, जैसे बीस वर्ष पहले था।

एक समय का सहायक व्यक्तित्व आज प्रेरक व्यक्ति बन कर मानों जीवन दे रहा है। ऐसे व्यक्तियों की प्रेरणा ही तो जीवन का संबल है। मास्टर साहब ने न मालूम कितने लोगों का इतिहास बनाकर अपना इतिहास लिखा। मैं भी आज अपना इतिहास लिख रहा हूं, पर मास्टर साहब जैसे महाप्राण व्यक्तियों का इतिहास ही तो उसमें प्रेरणा भरता रहा है।

समाज के बीच उनकी प्रेरणा बनी रहे, जीवन-ज्योति देती रहे, मास्टर साहब के प्रति रही हुई श्रद्धा आज झुक-झुक कर यही तो निवेदन कर रही है।

वे सच्ची सेवा के भाव लेकर इस दुनिया में उतरे थे

(श्री मोतीलाल कासलीवाल)

मास्टर मोतीलाल जी संघी से मेरा परिचय बहुत पुराना है—जब वे महाराजा स्कूल में पढ़ाते थे—तब से ही उनसे मिलना अधिक होता था। उनमें समाज की सेवा का रंग घुला मिला था और प्राणीमात्र की सेवा उनका ध्येय था। उनका किसी समाज विशेष से ही कोई सम्बन्ध नहीं था। किसी समाज के स्त्री पुरुष, बालक, युवा सबका नैतिक उत्थान हो, यही उनका ध्येय था और मूक सेवा करना परम कर्तव्य समझते थे। इससे उन्होंने एक पुस्तकालय मन्दिर जी बड़ा तेरापंथियान में स्थापित किया और ज्ञान-दान की गंगा उन्होंने ऐसी बहाई जिसकी मिसाल कम मिलती है। वे स्वयं सब लोगों के घर पुस्तकें लेकर पहुंचाते थे और उनमें उसके पढ़ने का शौक पैदा करते थे। जो असहाय विद्यार्थीगण अपनी उच्च पढ़ाई में अर्थाभाव से वंचित रहते थे उनको वे हर तरह की सहायता पहुंचाते थे। ऐसे सैंकड़ों की गिनती में विद्यार्थी होंगे जिनको उन्होंने सहायता देकर उच्च शिक्षा दिलाई थी। विधवाओं की सहायता भी उनके ध्यान से परे नहीं थीं, लेकिन वे इस बात का भी ध्यान रखते थे कि समाज के पैसे का दुरुपयोग तो नहीं हो रहा है। एक दफा उन्होंने अमुक ऐसी विधवा का हाल कहा जिसको वे सहायता देते थे लेकिन जब उनको यह मालूम हुआ कि वह व्यर्थ की सामाजिक कुरीतियों में रुपया खर्च करने पर उतारू है तो उसको सहायता देना कतई बंद कर दिया। मास्टर साहब सच्ची सेवा के भाव लेकर इस दुनिया में उतरे थे और खेद इसी बात का है कि उनके रास्ते पर चलने वाला कोई नजर नहीं आता यद्यपि समाज सेवा का दम हर कोई भरता है।

असमर्थ छात्रों के मसीहा

(श्री भंवरलाल पोल्याका)

बात सन् १९३४ की है। संस्कृत का अपना थोड़ा सा अध्ययन समाप्त कर जब मैं दरवार हाई स्कूल की मिडिल कक्षा में प्रविष्ट हुआ तो मुझे वहां सर्व प्रथम मास्टर साहब के निकट संपर्क का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे स्कूल के तत्कालीन अध्यापकों में अनुमानतः सर्वाधिक वयः प्राप्त थे। उनका वेष भी अत्यन्त ही सादा था—छात्रों को डांटने की अपेक्षा वे उन्हें प्रेम पूर्वक समझाना अधिक अच्छा समझते थे। स्कूल का उद्दण्ड से उद्दण्ड छात्र भी उनका मान करता था और उनके समक्ष किसी प्रकार की उद्दण्डता करने में हिचकता था। यह सब उनके साधु—स्वभाव का परिणाम था। किसी को कष्ट में देख कर चुपचाप उसकी सहायता कर देना उनकी प्रकृति थी। केवल आर्थिक कष्ट के कारण ही कोई छात्र अपना अध्ययन जारी न रख सके, यह उन्हें सहन नहीं होता था— उनके इस महान् गुण का परिचय भी मुझे उसी वर्ष हुआ। तत्कालीन शिक्षा विभाग के डाक्टर श्री अमरनाथ ने उस वर्ष जव स्कूल के छात्रों की नेत्र-परीक्षा की तो उन्होंने जिन-जिन छात्रों की नेत्र—ज्योति ठीक नहीं पाई उनके लिए चश्मा लगाने का निदान किया। उनके इस निदान का इतनी कठोरता से पालन हुआ कि एक ऐसी आज्ञा प्रचारित भी करदी गई कि निश्चित अवधि के अन्दर जो छात्र चश्मा नहीं लगा लेगा उसको स्कूल से निकाल दिया जायगा। मेरे वरावर की ही सीट पर बैठने वाला एक मेरा सहपाठी अर्थाभाव के कारण ऐसा नहीं कर सका और प्रधानाध्यापक ने उसको आदेश दे दिया कि वह दूसरे दिन से कक्षा में नहीं बैठ सकेगा। वेचारा गरीब छात्र श्रेणी में आकर गुमसुम होकर बैठ गया। थोड़ी देर वाद प्रकृतिस्थ होने पर वह मुझसे बोला—भंवरलाल जी, कल से मैं स्कूल न आ सकूंगा—और ऐसा कहते कहते ही उसकी आंखों से टपटप आंसू गिरने लगे। सच मानिये उसकी इस दशा पर मेरा हृदय द्रवित हो उठा, किन्तु चाहते हुए भी मैं उसकी कोई सहायता नहीं कर सकता था। अपने खुद के चश्मे का प्रवन्ध ही मैं ने जैसे तैसे कठिनाई से किया था।

याद नहीं मास्टर साहव को किस प्रकार यह वात ज्ञात होगई—या तो महाजनी पढ़ने वाले किसी छात्र ने उनसे इसका जिक्र कर दिया या उसने स्वयं ही मास्टर साहव से कहा हो और मास्टर साहव ने उसी दिन उसको एक

बहुत अच्छा चश्मा दिला दिया—इस प्रकार वह छात्र अपना अध्ययन चालू रख सका। बाद में उसने मुझे बतलाया था कि उसकी पुस्तकों और स्कूल की फीस आदि का प्रबन्ध भी मास्टर साहब ने ही किया था। यह भी मैं बतला दूं कि वह छात्र जैन नहीं था।

इस प्रकार मास्टर साहब ने न जाने अपने जीवन में कितने असमर्थ छात्रों की बिना किसी जातिगत भेद-भाव के सहायता की थी। उनकी सहायता का हाथ बिना किसी पक्षपात के प्रत्येक के लिए उठा रहता था—असमर्थ छात्रों के तो वे मसीहा ही थे। किसी भी प्रकार देश में ज्ञान का प्रकाश फैले, इसका प्रयत्न उन्होंने आजीवन किया–अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे लोगों के घर तक जाकर उनको पढ़ने के लिये पुस्तकें दे आते थे और ले आते थे।

मास्टर साहब स्वयं ही एक मूर्तिमान संस्था थे। ज्ञान प्रसार का जितना महान् कार्य उन्होंने अकेले ही अपने जीवन में किया, उतना कई संस्थाएं मिल कर भी नहीं कर सकतीं। फिर भी उन्होंने प्रसिद्धि प्राप्त करने की कभी इच्छा नहीं की—जो कुछ उन्होंने किया चुपचाप किया और अपना सहज कर्तव्य समझ कर किया। उनके निधन से दीनों का एक मात्र सहायक, छात्रों का मित्र, जनता का मूक सेवक हमारे बीच से उठ गया। एक ऐसी विभूति हमसे छिन गई जो संसार में यदा कदा ही जन्म लेती है।

निर्माण उनका चिंतन और निर्माण ही उनका आनन्द था

(श्री गोपालदत्त शर्मा)

परमादरणीय स्वर्गीय मास्टर श्री मोतीलाल जी संघी से मैं अपने बाल्य-काल से ही परिचित हूं। आपकी खादीधारी वह मूर्ति प्रायः नेत्रों से ओझल नहीं हो पाती है। वे पूज्य महात्मा गांधी के खादी आन्दोलन के प्रारम्भ करने से पूर्व ही अपनी १८ वर्ष की आयु से ही खादी धारण किया करते थे तथा अन्य कार्यों के उपयोग में भी लेते थे। वास्तव में निर्माण जिसका बचपन हो, निर्माण जिसका चिन्तन हो, निर्माण जिसका आनन्द और विनोद हो, वह भविष्य की प्रेरणा का आदर्श क्यों न स्थापित कर अपने महान

यक्तित्व की चित्तवृत्ति के द्वारा जनता में कर्तव्य-निष्ठता की वृत्ति डाल अपने समय का पथ-प्रदर्शक होगा !

आप यद्यपि जाति से जैन थे किन्तु आप में धार्मिक सहिष्णुता बड़ी विलक्षण थी। आप हिन्दू, मुस्लिम या हरिजन आदि का विचार अपने हृदय में कम ही रखते थे। आपने पूज्य बापू के हरिजन आन्दोलन के पूर्व ही रैगरों की कोठी चौकड़ी घाट दरवाजा मे एक पाठशाला खोली थी, जिसमे उनके शिष्य ही रैगर व कौलियों के बालकों को अध्ययन कराया करते थे और मास्टर साहब स्वयं वहां जाकर उनका निरीक्षण किया करते थे।

मास्टर साहब अनाथ एवं अशक्त व्यक्तियों के लिये उनकी रुग्णावस्था में श्री लक्ष्मी आयुर्वेदिक फार्मेसी से औषध ले जाकर उनके घर स्वयं पहुंचाते थे। वे जाति-पांति के भेद भाव से परे थे और यही कारण है कि उन्होंने कितने ही अशक्त मुसलमानों के घर मुझको साथ ले जाकर रोग-निरीक्षण करवाया तथा औषध ले जाकर स्वय ने रोगियों के घर पहुंचाई।

वे अनेक बार रोग के सम्बंध में मेरे बताये हुये पथ्य के लिए पैसा अपने स्वय के पास से देकर रोगियों की सेवा करते थे।

धन्य है उस सतत जन सेवक को—जिसकी महानता अपरिचित जनों के चिंतन पर रंग चढ़ा सकती है, तथा औरों को सहयोग का पाठ पढ़ा सकती है।

औधष दान के लिए वे स्थानीय औपधालयों में रुपये दे दिया करते थे और चाहते थे कि इनकी औपधियां बनवा कर वहां से दीन रोगियों को वितरण हो जाया करें।

शिक्षा-प्रेम स्वर्गीय मास्टर साहब में अपनी पराकाष्ठा में दृष्टिगोचर होता है। यह सर्व विदित है कि वे छात्रवृत्ति हित–आर्थिक सहायता देते थे। यही नहीं वरन् अन्न, वस्त्र, परीक्षा शुल्क आदि दे, शिक्षा-प्रेम की भावना का उत्थान कर राह दिखाते थे, तथा परोपकारिता एवं भावनाशीलता का स्मारक खड़ा करते थे। मेरे पास आयुर्वेद अध्ययन करने वाले अनेक छात्रों को उनकी परीक्षा शुल्क का रुपया आदरणीय मास्टर साहब ने दिया था तथा अजमेर परीक्षा देने जाने के लिए उनको मार्ग-व्यय भी दिया था। मास्टर साहब जनता के मूक सेवक थे। वे सेवा दिखाने के बिलकुल विरुद्ध थे। सतत जन सेवा की प्रवृत्ति वाले मास्टर साहब छात्रों को देने स्वयं घर जाते थे और उनकी रुचि को जानने का प्रयत्न करते थे। उनके अध्ययन कर चुकने पश्चात्

स्वयं पुस्तक लेने भी छात्रों के घर जाते थे। छात्रों की सहायता के अतिरिक्त आपने विद्यालयों की सहायता भी मूक रूप से की थी। सचमुच वे एक असाधारण व्यक्ति थे, जिन्होंने मानव समाज की ठोस सेवा कर उसे चिर ऋणी बना दिया है।

मास्टर साहब वास्तविक आदर्श थे। उनके कतिपय उपदेशों को मैं निम्न प्रकार व्यक्त करता हूं:—

१—इच्छाओं को अनावश्यक नहीं बढ़ाना चाहिये और आवश्यकतानुसार कार्य करते रहना चाहिये। यह था उनके जीवन का वास्तविक मौलिक सिद्धान्त।

१—प्राणी मात्र से प्रेम करो। यदि कोई व्यक्ति अकारण असन्तुष्ट हो तो पूर्वाभिमुख होकर ईश प्रार्थना करने के बाद उस प्राणी से भी क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिए। उनका मानना था कि ऐसा करने पर विरुद्ध व्यक्ति की आत्मा का आकर्षण हो जाता है और विरोध के परिहार का यह सरल उपाय है। यह था उनके चिन्तन-जगत का महिमामय प्रशस्ते यथार्थ ज्ञान।

३—प्राणी मात्र की सेवा करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। यह था कर्त्तव्यनिष्ठा का महान आदर्श जिस पर वे स्वयं चले थे।

पीर पराई जो हरै, दिल का जाने दरद।
मार सकै मारै नहीं, उसका नाम मरद॥

यह दोहा आपका ही कहा हुआ है तथा इसी प्रकार समय समय पर अपनी नोट बुक से वैराग्य के भजन करते थे।

ऐसे स्पृहाशून्य, सच्चे देश भक्त व सच्चे कर्मनिष्ठ आदर्श व्यक्ति के शुद्ध आत्मबोध द्वारा प्राप्त की हुई वे भावनायें, जो सामान्य जनता के हृदय पर अपना आसन अंकित किये हुए हैं सर्वदा शान्ति तथा सुख की दात्री हैं। अतः ऐसे महान व्यक्ति की चित्तवृत्तियों को साहित्यिक रूप देना अपरिचित जनता के समीप आदर्श रखना है तथा पर दुःख कातरता के सिद्धान्त का नाद करना है। ईश्वर उस महान विभूति और मूक सेवक की आत्मा को शान्ति प्रदान करें तथा जनता की आवश्यकताओं को समय-समय पर ऐसे ही महान व्यक्ति की सेवाओं के द्वारा पूरी करें, यही मेरे हृदय की पुकार है।

गृहस्थ में साधु-जीवन के प्रतीक

(राजवैद्य पं० श्रीनंदकिशोर शर्मा)

श्रद्धेय स्वर्गीय श्री मोतीलालजी संघी के सम्बन्ध में कुछ बताना एक प्रकार से गम्भीर सागर के अन्तस्तल का स्पर्श करने के समान साहस है। जैन धर्म के साक्षात्–स्वरूप के अनुकूल उनके जीवन का प्रवाह रहा है। **गृहस्थ में साधु–जीवन के दिव्य दर्शन के वह प्रतीक थे। उनके सहज सौजन्य का प्रभाव निर्बाध रूप से जयपुर के सब ही नागरिकों पर अविरल पड़ा था।** छात्रों के जीवन में जिस कोमलता और सहानुभूति की अमिट छाप उनके द्वारा लगी है, वैसा उदाहरण ढूंढ़े भी नहीं मिल सकता।

किसी वर्ग या जाति विशेष का उन्हें पक्षपात नहीं था। 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' की अमिट ज्योति उनके हृदय में विराजमान थी। सन्मति पुस्तकालय के बहाने जयपुर के नागरिकों के चरित्र गठन में जो सेवाएं उनकी थीं, उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। सत्कार, सम्मान अथवा प्रतिष्ठा की कामना से वे दूर रहते थे।

उन मूक सेवक, साधुचरित, निःस्पृह महात्मा की पुण्य स्मृति में मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूं।

वे सेवाव्रती थे

[श्री चैनसुखदास रावका]

श्री मास्टर मोतीलाल जी संघी का जीवन-वृत सेवा था। वे अपनी मृत्यु के अंतिम क्षण तक मानव-सेवा के पुनीत कार्य में लगे रहे। प्रत्येक प्राणी मरण-धर्मा हैं, किन्तु निःसन्देह वे मनुष्य कभी नहीं मरते जो अपने लिए नहीं, पर असहायों, निराश्रितों, दीनों और दुःखियों के लिए जीते हैं। मास्टर साहब का चाहे ऐहिक देह अब नहीं रहा, किन्तु उनकी स्मृति सदा अमर बनी रहेगी। उनका नाम उन लोगों के नाम की तालिका में लिखा जायगा जो कभी मरते ही नहीं।

मास्टर साहब वस्तुतः सन्त थे। सरकारी स्कूल से विश्राम प्राप्त करने के बाद उन्होंने अपने सारे जीवन को लोक सेवा में लगा दिया था। बिना किसी प्रकार की ख्याति और प्रतिष्ठा की आकांक्षा के अनासक्त भाव से वे हर किसी की सहायता करने के लिए सदा तत्पर रहते थे। विद्यार्थियों और दुःखी अबलाओं की मदद के लिए वे धनियों के द्वार खटखटाते और अपने पवित्र व्यक्तित्व के प्रभाव से उनकी दान वृत्ति जागृत कर उनसे पैसा लाते। उन्होंने स्वयं निष्किंचन होकर भी सहस्रों को आर्थिक सहायता से उपकृत किया है। ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो असहाय अवस्था में उनसे उपकृत हुए और आज गौरव एवं प्रतिष्ठा का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। विद्यार्थियों के लिए तो वे मानों कल्प वृक्ष ही थे। उनके पास से कभी कोई निराश लौट कर नहीं आता था। वे अनेक तरह से उनकी मदद करते थे। पुस्तक नहीं है तो पुस्तकों का प्रबन्ध करते। परीक्षा-शुल्क नहीं है तो उसकी तजवीज बिठाते। जो प्रयत्न करने पर भी किसी स्कूल में प्रवेश नहीं पा सके हैं उन्हें कहीं न कहीं प्रवेश कराते। ये सब वे साम्प्रदायिकता, जातीयता और प्रांतीयता की भावना से बहुत दूर रह कर करते थे। **उनकी सहायता की पात्रता के लिए अन्य किसी शर्त की जरूरत नहीं थी, केवल एक ही शर्त आवश्यक थी कि वह योग्य और वस्तुतः असहाय हो।**

उनकी स्मृति को सदा ताजा रखने वाला उनका सन्मति पुस्तकालय है। यह पुस्तकालय स्वयं उन्हीं की सृष्टि है। जयपुर के विशाल सार्वजनिक पुस्तकालय के समकक्ष नहीं तो जयपुर में उसके बाद इसी पुस्तकालय का नाम लिया जा सकता है। इसमें करीब पच्चीस हजार पुस्तकें हैं। इस पुस्कालय के द्वारा मास्टर साहब ने जो जनता की सेवा की है, उसकी तुलना शायद ही कहीं मिले। वे स्वयं पुस्तक लेकर लोगों के घर जाते और उन्हें पढ़ने के लिए देते। पहली पढ़ी हुई पुस्तक ले आते और दूसरी दे आते। बहुत अर्से तक यही उनका नित्य क्रम रहा। पुस्तकालय में शिक्षा संस्थाओं के पाठ्यक्रम की पुस्तकों के कई सेट वे रखते और इस तरह असहाय छात्रों की सहायता करते। सचमुच इस पुस्तकालय से जयपुर की जनता की उल्लेखनीय सेवा हुई है। 'नहि ज्ञानात् परं श्रेयः' 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते,—ये उनके जीवन के मूल मंत्र थे।

मास्टर साहब बड़े दयालु थे। दूसरों को दुखी देखना उन्हें तनिक भी पसन्द नहीं था। उनकी यह स्वभाव-सिद्ध वृत्ति उन्हें सदा परोपकार के लिए प्रेरित करती रही। वे कभी-कभी दुखियों की कष्ट—कथा सुनकर रो पड़ते थे।

एक बार वे मेरे पास आए और कहने लगे--ये दो भजन मैं आपको सुनाना चाहता हूं, सुन लीजिये। मैं आदर के साथ उन भजनों को सुनता हुआ उस समय क्या देखता हूं कि भजन गाते गाते उनकी आंखें डबडबा आईं, गला रुंध गया और दो आँसू दरी पर टपक पड़े। उन वेदना पूर्ण भजनों में कोई दुःखी कवि भगवान को अपनी कष्ट-कथा सुना रहा था। कवि ने सचमुच-अपनी दयनीय अवस्था का पूरा चित्र खींचा था। मास्टर साहब का भावुक हृदय उसे न सह सका और रो पड़ा। उनकी उस स्थिति ने मुझे बहुत प्रभावित किया। दुःख है कि मैं उन दोनों भजनों की नकल नहीं कर सका नहीं तो यहां उद्दृत कर देता।

जयपुर के सभी छोटे-बड़े लोगों पर मास्टर साहब का प्रभाव था और वे इस प्रभाव का उपयोग दीन दुःखी एवं असहाय लोगों के उपकार करने में करते थे। इस समय देश को मास्टर साहब जैसे मूक सेवकों की जरूरत है। पर दुःख यही है कि आज चारों ओर नेता ही नेता नजर आते हैं यथार्थ सेवक तो कहीं कोई बिरले ही मिलते हैं। सब भवन के शिखर बनना चाहते हैं—लेकिन सारे भवन का अपने ऊपर बोझ झेलने वाले एवं नींव के पाषाण बनने वाले लोगों का मिलना वास्तव में दुर्लभ है। हमें मास्टर साहब के पथ का अनुसरण करना चाहिये।

कहां वह परोपकार, कहां वह ज्ञान-प्रसार और कहां यह केवल श्रद्धांजलि !

(श्री देवी नारायण गुप्ता)

स्वर्गीय मास्टर साहब की स्वार्थ विहीन मित्रता का जो आदि से अन्त तक मेरे स्वर्गीय पिता श्री दामोदरदासजी के साथ रही, वर्णन करना मेरे लिए असम्भव प्रतीत होता है। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं कि मास्टर साहब ने मेरे पिताजी के साथ सत्यांश में मैत्री भाव निभाते हुए हम लोगों के भाग्य का निर्माण किया और मेरे कुल में जितने भी पढ़े लिखे व्यक्ति हैं उनको पढ़ाने का श्रेय वहुत कुछ मास्टर साहब को ही है।

अनुमानतः २०–२१ वर्ष की आयु में मास्टर साहब और मेरे पिताजी ने अपना अध्ययन काल समाप्त कर जनता में ज्ञान-प्रसार का कार्य लिया था।

एक ही स्कूल में पढ़ना तथा उसी स्कूल में एक ही विषय पढ़ाने के नाते उन दोनों में स्वाभाविक प्रेम भाव उत्पन्न हो गया था, तथा एक दूसरे की स्वार्थ रहित भावना ने एक दूसरे को बहुत आकर्षित कर लिया था।

आजन्म सहयोगी इन दोनों मित्रों की मित्रता आज जीवन का आदर्श है। इस निःस्वार्थ मित्रता ने कभी एक दूसरे पर सन्देह करने का अवसर नहीं दिया। जिस कार्य को करने का बीड़ा वे दोनों उठाते थे, उसमें वे अवश्य ही सफलता प्राप्त करते थे। दोनों के व्यक्तित्व ने अपने मार्ग में आने वाले पथ-कण्टकों को बराबर दूर हटाया था।

मास्टर साहब का मौलिक सिद्धान्त था कि अपने लिये किसी से कुछ न मांगना। इसको उन्होंने जीवन भर निभाया। इसका एक मात्र सबूत यही है कि मास्टर साहब ने अपना रहन-सहन बहुत सादा और नियमित रख कर परोपकार का कार्य किया, जिसका मुकाबला और कोई नहीं कर सकता। एक मामूली तनख्वाह पाते हुए उन्होंने हजारों व्यक्तियों के पढ़ाने का प्रबन्ध किया और श्री सन्मति पुस्तकालय जैसा एक विशाल केन्द्र स्थापित किया और बच्चों से लेकर बूड्ढों तक को पढ़ना सिखाया। उनकी परोपकार वृत्ति एवं आदर्श मैत्री के कुछ दृष्टान्त यहां प्रस्तुत कर देना चाहता हूं।

मेरे पिताजी ने मेरे भाई साहब के विवाह अवसर पर कुछ सामान एक साहूकार के यहां से इस विश्वास पर मंगवाया था कि उसका रुपया थोड़ा २ करके चुका दिया जायगा। शादी होने के ५–७ दिन बाद ही साहूकार के मुनीम ने और लोगों के साथ में हमारे यहां भी याददाश्त भेज दी। पिताजी एवं मास्टर साहब को ऐसी आशा न थी। इस घटना का पिताजी ने मास्टर साहब से जिक्र किया। मास्टर साहब ने आश्वासन देकर कहा कि आप चिन्ता न करें, मैं उससे मिल लूंगा। उसी दिन मास्टर साहब ने अपनी स्त्री का एक जेवर लेकर बाजार में बेच दिया और रुपया चुका दिया। यह बात मेरे पिताजी को बहुत अर्से तक मालूम भी नहीं हुई।

मैट्रिक पास होने के बाद मेरी शादी हो चुकी थी। जब मैंने इन्टर कर लिया तब मेरी आर्थिक स्थिति ने मुझे बाध्य किया कि मैं पढ़ना छोड़ दूं और धनोपार्जन का प्रयत्न करूं, पर मास्टर साहब की नेक सलाह और उत्साह ने मुझे अध्ययन जारी रखने का प्रोत्साहन दिया, और मैं चार वर्ष पश्चात् ही पोस्ट ग्रेजुएट हो गया। यह उनकी परम कृपा का फल था। हमारे वंश के और लोगों की उन्नति का पथ प्रदर्शन कराने में भी मास्टर साहब का बहुत हाथ है।

मास्टर साहब की अनुरक्ति रूपी सुगन्ध अपनी उत्तमता महका रही है। जीवन से समवाय की ऐसी ऐक्यावस्था की विभूति को श्रद्धा की अंजलि के अन्तर्गत संतक्त नहीं किया जा सकता। अनुरक्ति रूपी भव चक्र श्रद्धा रूपी अंजलि की परिधि में पूर्ण नहीं समझा जा सकता है। अतः उस मानव-प्रेमी समदर्शी सदाशय को श्रद्धांजलि अर्पित कर हम अपने को भार विहीन नहीं कर सकते। कहां वह श्रद्धा! कहां उनका वह परोपकार!! कहां वह ज्ञान प्रसार और कहां केवल यह श्रद्धांजलि!!!

मास्टर साहब जैसे निस्पृह, मूक और सच्चे समाज सेवक का व्यक्तित्व सामान्य जनता के हृदय पर आसन जमाये हुए है। यह वर्णन किये जाने वाला विषय नहीं, केवल अनुभव की वस्तु है, जिसका उपयोग कर जनता सदैव उन्नत होगी।

उनके दर्शन से मैं अपने को कृतकृत्य मानता था

(श्री हीरालाल शास्त्री)

स्वर्गीय मास्टर मोतीलाल से मेरा विशेप व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं था। पर मैं उनके प्रति हार्दिक श्रद्धा रखता था। एक बार मैं उनके पास कुछ पुस्तकें लेने को गया था और दूसरी बार मैं उनके पास जीवन कुटीर के लिए चन्दा मांगने के लिये पहुंचा था। दोनों ही अवसरों पर उनका जो व्यवहार था, उसका मुझ पर सुन्दर प्रभाव पड़ा था। जब कभी वे रास्ते में आते जाते मिल जाते थे तो उनके दर्शन करके मैं अपने आपको कृतकृत्य मानता था। उनके स्वर्गवास के अवसर पर जो शोकसभा हुई थी, उसमें मैंने भी भाग लिया था और अपने हृदय के उद्गार श्रद्धांजलि के रूप में प्रगट किये थे। थोड़ी आमदनी में अपना काम चलाना, सादा और सेवामय जीवन व्यतीत करना, परोपकार का काम निष्कपट भाव से अपने निजी काम के तौर पर करना—वह सब कुछ स्वयं मास्टर साहब के जीवन से सीखा जा सकता है। मैं फिर एक बार अपनी श्रद्धांजलि प्रकट करता हूं।

सबके पल्ले लाल, लाल बिना कोई नहीं

(श्री सूरजमल सिंघी)

यद्यपि आज वे हमारे बीच नहीं हैं, तथापि उनके सदुपदेश आज भी हमें बुरे कार्य की ओर अग्रसर होने से बचाते हैं। उन की तीन बातें याद रखने योग्य थीं, जिनको वे हम लोगों को वारवार सुनाया करते थे—(१) उच्च भावना (२) सात्विक जीवन-निर्वाह (३) धार्मिक मरण। इनमें सांसारिक जीवन का रहस्य गर्भित है। मास्टर साहब का वह दृश्य जबकि वे एक बुढिया की मक्का की गठरी कंधे पर धरकर पीतलियों के चौक तक पहुंचा आए थे, मेरे वार-बार आग्रह करने पर भी मुझको न दी थी—अब भी नेत्रों के सामने सजग है। उनका मुसलिम व हरिजन भाइयों के प्रति प्रेम जिससे खिंचे वे वार-वार पुस्तकालय से नीचे आते थे, अब भी उन जैसे सहृदय, सच्चे तथा मूक सेवक की तलाश में है। परशराम द्वारे वाला वह मीणां भाई, जिसने उनके सत्संग में रह कर रामायण, भगवद्गीता आदि शास्त्रों को पढ़ने व समझने की योग्यता प्राप्त करली थी, अव भी उनके उस दोहे को, जिसे वे उसे प्रेम से सुनाते थे; हमें सुना कर मास्टर साहब की याद को तरोताजा कर देता है :—

सबके पल्ले लाल, लाल बिना कोई नहीं।
यातैं भये कंगाल, गांठ खोल देखी नहीं।।

अगले जन्म के लिए भी कुछ जोड़ कर रख रहे हो ?

(श्री रामनिवास अग्रवाल)

पूज्य मास्टर साहब के विषय में लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है, परन्तु उनके निकट सम्पर्क में मुझे कई वर्ष रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सन् १९२४ से सन् १९३५ तक अपने विद्यार्थी जीवन में हमेशा करीब-करीब उनके पास रहा। उनका अगाध प्रेम अवर्णनीय है। विद्यार्थियों की रुपये

पैसे से, पुस्तकों से तथा विद्यादान देकर सेवा करना उनके जीवन का ध्येय था—घर-घर जाकर आत्मोन्नति की पुस्तकें देना तथा फिर वापिस लाना, कितना कठिन कार्य है, वह उन्होंने जीवन भर किया। उनका सत्य प्रेम अहिंसा की वृत्ति तथा निस्वार्थ सेवा भावना अवर्णनीय है। जयपुर के हजारों विद्यार्थियों के जीवन को बनाना मास्टर साहब का ही काम था। वे **सच्चे शब्दों में महात्मा तथा ऋषि थे।** जब कभी बाद में बाजार में उनके दर्शन होते, यही पूछते—भाई अगले जन्म के लिए भी कुछ जोड़ कर रख रहे हो या नहीं, या दिन रात रुपये पैसे कमाने में ही रहोगे? ये शब्द मुझ को बड़ी प्रेरणा देते रहते थे। उनके विषय में मुझ जैसा व्यक्ति, जिसका जीवन ही उनकी शिक्षा का फल है, बहुत कुछ लिखने के लिए लालायित है परन्तु स्थानाभाव से अधिक लिखना सम्भव नहीं। मेरी भगवान से प्रार्थना है कि ऐसे निष्कपट महात्मा बार-२ संसार में अवतीर्ण होकर त्रयताप सन्तप्त जनों को अपने उपदेशामृत से शान्ति देते रहें।

वे एक महान् पुरुष थे

(श्री राधेश्याम झा)

मास्टर साहब के विषय में जहां तक लिखा जाय अल्प है। वे एक महान् पुरुष तथा विलक्षण मूर्त्ति थे—आजन्म अपने लक्ष्य-पथ पर चलकर उन्होंने सब का कल्याण किया। और भी नगरों में मैंने धार्मिक कथाओं का प्रचार किया किन्तु ऐसे महान पुरुष का कम ही दर्शन हुआ। उनका जीवन में शिक्षित नर नारियों से ही नहीं बल्कि प्राणी मात्र से प्रेम रहा, और देश सेवा में तन मन धन सब कुछ न्यौछावर करते हुए सब के हृदय में प्रेममूर्त्ति बन गये। छात्र-छात्राओं और गरीबों में तो चिर काल के लिए उनका अमर कीर्त्ति-दीपक जगमगा रहा है। भोजन, वस्त्र, किताबों से सहायता पाये हुए, आज भी उन्हीं की कृपा से अच्छे पद प्राप्त, उनकी दयालुता के स्मारक रूप प्रेमाश्रु बहा रहे हैं, कतिपयलोग।

'धनाद्धर्म, ततः सुखम्' के अनुसार उन्होंने श्री सन्मति पुस्तकालय में लोगों के उपकार के लिये सभी धर्मों के धार्मिक ग्रन्थों का संग्रह किया। उपनिषद्, पुराण का संग्रह तो उन्होंने अत्युत्तम किया—जबकि आज भी इस देश में दुर्भाग्य से कई पुराणों का मिलना दुर्लभ हो गया है।

श्रद्धेय दयालु मास्टर साहब से मेरा काफी सम्पर्क रहा—तथा कई ग्रंथों से सहायता मिली। उनके लिए आजन्म आभारी रहूंगा—तथा भगवान् उन्हें जिस लोक में हों, सुख शांति प्रदान करे और यहां उनके स्मारक सन्मति पुस्तकालय की कीर्त्ति लोगों में छाई रहे।

[१]

मातु विद्या के पुजारी खेद है अब हैं नहीं,
उनका ये 'सन्मति पुस्तकालय' वाणि-धारा बह रही ॥
जीवन में दानी बन के जिसने मारग सुधारा है सही
देता मैं श्रद्धाञ्जली भर पुष्प माला ले जुही ॥

[२]

सेवक रहे हर प्राणी के, स्मारक रहेंगे छात्र से।
नाम 'मोतीलालजी' पूरण किये धन प्रान से ॥
पुण्य गौरव को बढ़ाया सत्यपथ अरु शान से।
अर्पित है 'राधेश्याम' की श्रद्धाञ्जली भर मान से ॥

उनका उच्च तथा शांत व्यक्तित्व !

(श्री श्यामबिहारी लाल सक्सेना)

जयपुर नगर में इस युग का किंचित् ही कोई शिक्षित व्यक्ति होगा, जो मास्टर मोतीलालजी से किसी न किसी भांति परिचित न हो। मेरा परिचय समाज के उस महान् एवं आदर्श व्यक्ति से सन् १९२५ में हुआ था और मैं उनके शुचि सम्पर्क में तभी से आया जब चांदपोल हाई स्कूल में जो अब दरबार हाई स्कूल के नाम से विख्यात है, मैं बून्दी से परिवर्तित होकर नवम् श्रेणी में प्रविष्ट हुआ था। मुझे पूज्य मास्टर साहब से पाठशाला में शिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य तो प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि मास्टर साहब नीचे की कक्षाओं को पढ़ाते थे, किन्तु फिर भी उनसे मेरा यह सम्बन्ध जो कि एक अध्यापक तथा विद्यार्थी का होता है, बीस वर्ष तक रहा। स्कूल में प्रविष्ट होने के कुछ समय उपरान्त ही से मैं उनके निकट सम्पर्क में आया और प्रायः उनके पुस्तकालय में जाने लगा। वे मुझे विशेषकर धार्मिक ज्ञान देते थे और यदि कभी मैं किसी कारणवश उनके पास नहीं जा पाता तो वे स्वयं मेरे घर पर आ जाया करते थे।

मास्टर साहब वास्तव में त्याग की मूर्त्ति थे। उनके जीवन का सब से बड़ा उद्देश्य जनसाधारण की सेवा था। वे धन लोलुप तथा स्वार्थी न थे, प्रत्युत जो अल्प वेतन उन्हें मिलता था, उसी में सन्तुष्ट रहते थे। उनका समस्त जीवन, खान-पान तथा रहन-सहन बिलकुल साधारण था तथा आज के युग की कृत्रिमता से, फैशन तथा दिखावे से उनको बड़ी घृणा होती थी। पाठशाला के समय को छोड़कर वे अपना सारा समय जन साधारण की सेवा में व्यतीत किया करते थे। लोगों के घर जाकर वे स्वयं सहायता एकत्रित करते थे और प्राप्त धन से, जन हितार्थ खोले हुए पुस्तकालय को वृद्धि प्रदान करते थे। यह एक मात्र उनके परिश्रम तथा निस्वार्थ सेवा का ही परिणाम था कि 'श्री सन्मति पुस्तकालय' एक बहुत बड़ा पुस्तकालय बन गया तथा जिसमें भिन्न-भिन्न विषयों पर सहस्रों पुस्तकें एकत्रित हो गईं, जो आज ही नहीं किन्तु अनेक शताब्दियों तक जन समुदाय को ज्ञान की अमिट राशि प्रदान करके उनके त्याग तथा नाम को सदैव अमर रक्खेगी। उन्होंने वास्तव में अपना समस्त जीवन सरस्वती की आराधना में तथा समाज को अज्ञानता के अन्धकार से निकाल कर ज्ञान से आलोकित करने में व्यतीत किया।

उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं धर्म को पुनर्जीवित करने का भरसक प्रयत्न किया। वे जैन धर्म के ज्ञाता तथा पण्डित थे और नियमानुसार साधुवृत्ति का जीवन व्यतीत करते थे किन्तु वे दूसरे धर्मों की अवहेलना अथवा घृणा नहीं करते थे बल्कि वे सब धर्मो का आदर करते थे। फलस्वरूप उनके पुस्तकालय में सभी प्रकार के तथा सभी धर्मों के ग्रन्थ उपस्थित थे तथा वे सभी का बड़ी रुचि से अध्ययन किया करते थे।

मास्टर साहब की सहानुभूति विद्यार्थियों के साथ विशेषकर उल्लेखनीय थी, वह निर्धन तथा असहाय विद्यार्थियों को आर्थिक तथा अन्य कई भांति की सहायता करने में सदैव तत्पर रहते थे। जयपुर ही नही, प्रत्युत बाहर भी राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के भी सहस्रों विद्यार्थियों को मास्टर साहब ने सहायता दी है। कई योग्य एवं निर्धन विद्यार्थियों को तो मास्टर साहब ने उच्च टेक्निकल शिक्षा के लिए बाहर भेज कर शिक्षित कराया। मास्टर साहब का त्याग और ध्येय इतना ऊंचा था कि वे प्रत्येक स्थान पर सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। उनके मुख मण्डल पर उच्च तथा शांत व्यक्तित्व की ऐसी अनुपम आभा विद्यमान थी, जिसके फलस्वरूप किसी में इतना साहस न होता था कि उनकी बात टाल सके।

स्कूल से पैन्शन हो जाने के पश्चात् वे अपना सारा समय पुस्तकालय में जन सेवा में लगाया करते थे। कुछ समय पश्चात् उनका स्वास्थ्य बिगड़ता

गया किन्तु फिर भी उस महान् आत्मा ने अपना कार्य स्थगित नहीं किया; प्रत्युत पूर्व की भांति निरन्तर लगे रहे और सन्मति पुस्तकालय के रूप में अपनी अमर स्मृति छोड़ गये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी पुण्य आत्मा ने अवश्य ही निर्वाण प्राप्त किया होगा।

उनका जीवन वास्तव में एक आदर्श था जिससे प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा लेनी चाहिये।

श्री मोतीलालजी के जीवन के कुछ पहलू

(श्री नन्दलाल निगम)

मास्टर मोतीलालजी उन इने गिने व्यक्तियों में से थे जिन्होंने दूसरों की सेवा करने में अपना जीवन अर्पण कर दिया। उन्होंने एक पवित्र सात्विक जीवन व्यतीत किया। उनके सिद्धांत वहुत ऊंचे थे तथा उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य पीड़ित मनुष्यों विशेषतः विद्यार्थियों की सहायता करना था।

मेरा मिलना मास्टर साहब से १९१७ में हुआ। उस समय वे शिवपोल मिडिल स्कूल में, जिसको अब दरबार हाई स्कूल कहते हैं, अध्यापक थे और मैं प्रधान-अध्यापक नियुक्त किया गया था। हम दोनों में शीघ्र ही मित्रता हो गई और वह दिनोंदिन घनिष्ठ होती गई तथा वह मास्टर साहब के अन्तिम समय तक स्थापित रही। यद्यपि थोड़े ही काल के पश्चात दरबार हाई स्कूल से मेरी बदली हो गई परन्तु वर्षों तक यह क्रम रहा कि मैं और वह प्रतिदिन एक दूसरे से मिलते थे।

जिस वस्तु ने मुझे श्री मोतीलालजी की ओर आकर्षित किया वह उनकी सत्य की खोज थी जिसमें वे तन मन से लीन थे। इसके लिए उनका सबसे पहला कदम एक पुस्तकालय की स्थापना करना था। पुस्तकालय के लिए रुपये की आवश्यकता थी। उन्हें सैकड़ों द्वार खटखटाने पड़े तथा चन्दा इकट्ठा करना पड़ा। कठिनाइयां अवश्य हुईं, परन्तु अन्त में उन्हें सफलता प्राप्त हुई। आरम्भ में उन्होंने अधिकतर धार्मिक पुस्तकें मंगाई तथा संसार के सभी प्रसिद्ध धर्मों– जैन, हिन्दू, ईसाई, इस्लाम व बौद्ध धर्मों – की पुस्तकें इकट्ठी कीं। सैकड़ों पुस्तकें उन्होंने स्वयं पढीं और इसी कारण जैन धर्म के अतिरिक्त उनकी जानकारी दूसरे धर्मों की भी बहुत अधिक थी। मैं और वे घण्टों धार्मिक

विषयों पर वहस किया करते थे तथा प्रत्येक धर्म की छानवीन करते थे। साथ ही साथ जब कोई महात्मा व साधु-सन्यासी, चाहे वह जैन मत का हो अथवा हिन्दू मत का, जयपुर में आता और हमें उसका पता लगता तो उससे मिलने हम अवश्य जाते तथा उसके सत्संग से लाभ उठाते। मैं वहुधा सुस्ती भी कर जाता था परन्तु मास्टर साहव ऐसे अवसरों को कभी छोड़ते नहीं थे। यही कारण था कि उनका धार्मिक ज्ञान प्रतिदिन वढ़ता गया व उनकी गिनती उन मनुष्यों में होने लगी जो प्रत्येक धर्म के मनुष्यों को रुचि के अनुसार शिक्षा दे सकते थे, उनके संशयों को दूर कर सकते थे तथा सीधा मार्ग दिखा सकते थे।

संसार में जो नास्तिकता की हवा फैली हुई है, उसको दूर करना उन्होंने अपना प्रमुख उद्देश्य बना लिया था, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने यह महसूस किया कि स्वयं लोगों के पास जाकर उनसे मिलना व वाद विवाद से उनको धर्म की ओर झुकाना बहुत कठिन कार्य है और इससे वहुत कम लोगों को लाभ हो सकता है, इस कारण उन्होंने वह मार्ग अपनाया जिससे उनका नाम अमर हो गया। वह मार्ग स्वयं लोगों के घर जाकर उनको धर्म की पुस्तकें देना व उनसे आग्रह करना था कि उनको पढकर शीघ्र ही वापस दें जिससे वे नये लोगों को दी जा सकें। अनजान मनुष्य को भी केवल उसका पता पूछ कर वे किताव दे देते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि यदि वे पचास मनुष्यों के घर स्वयं जाते तो सहस्रों मनुष्य पुस्तकालय में उनके पास किताबें लेने आते थे। इसका एक परिणाम अवश्य हुआ कि पुस्तकों की एक वहुत बड़ी संख्या गायब हो गई, क्योंकि वहुत से व्यक्ति ऐसे निकले जिन्होंने पुस्तकें वापस नहीं कीं, परन्तु इसकी उन्होंने कभी परवा नहीं की और अपना क्रम जारी रखा।

दूसरा बड़ा काम जिसकी ओर उन्होंने कदम उठाया—वह निर्धन विद्यार्थियों की आर्थिक सहायता करना था। इसके लिए भी वे स्वयं योग्य न थे, क्योंकि उनका इतना वेतन कम था कि वह उनके निर्वाह के लिए भी पर्याप्त न था, परन्तु उन्होंने हिम्मत न हारी। द्वार-द्वार पर इसके लिए भिक्षा मांगी व रुपया एकत्रित किया तथा हजारों गरीव विद्यार्थियों की पुस्तकों, कपड़ों व कुछ मासिक रकम से सहायता की। खास शहर जयपुर में इस समय भी बीसों ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं, जो वहुत ऊंचे पद पर है व जिन्होंने इसी ज़रिये से शिक्षा प्राप्त की थी।

मास्टर साहव अपने धर्म में पक्के थे, उसको श्रेष्ठ समझते थे, परन्तु उन्होंने कभी दूसरे धर्म की निन्दा नहीं की तथा अन्य धर्मावलम्बी सैंकड़ों

विद्यार्थियों व मनुष्यों से, जो उनसे मिलते थे और धार्मिक विषयों पर बातचीत करते थे, उनसे कभी यह नहीं कहा कि जैन धर्म सब धर्मों से श्रेष्ठ है, बल्कि वे यह कहते थे कि सत्य सब जगह पर है। मार्ग में भिन्नता हो सकती है, आवश्यकता इस बात की है कि थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करके व्यक्ति अभ्यास में लग जाय और उसमें दृढ़ रहे।

पेन्शन लेने के पश्चात् उन्होंने करीब अपना सारा समय इन दोनों कामों में व्यतीत किया। बहुत से युवक विद्यार्थी उनके इन कामों में सहायक हुए। उनकी आज्ञा के अनुसार बड़ी मेहनत से काम करने लगे, जिससे मास्टर साहब को बहुत उत्साह हुआ व उनको आशा होने लगी कि वे इन दोनों कामों को विशाल रूप में कर सकेंगे। परन्तु इसमें उनको निराशा हुई, क्योंकि कार्य-कर्त्ताओं की संख्या शीघ्र ही कम होती गई और साथ ही साथ उनकी शारीरिक शक्ति भी घटती गई। **जब वे अधिक चलने फिरने में असमर्थ हो गए तो उन्होंने अपना अधिक समय जैन धर्म की साधनाओं में व्यतीत किया और मेरा विश्वास है कि शरीरान्त होने से पहले वे एक बहुत ऊंची स्थिति पर पहुंच चुके थे।** मुझे आशा है कि हमारे नवयुवक उनके जीवन से शिक्षा प्राप्त करेंगे और उनको अपना आदर्श बनायेंगे।

मास्टर साहब के दो संस्मरण

(श्री सौभाग्यचन्द्र हाड़ा)

सन् १९४८ में प्रकाशित 'आज का जयपुर' में जब जयपुर के प्रतिष्ठित नागरिकों, सार्वजनिक कार्य-कर्त्ताओं एवं यहां की अग्रगण्य संस्थाओं का विवरण दिया जाने वाला था तो मास्टर साहब से भी उन के जीवन सम्बन्धी कुछ बातें उसमें देने की अनेक बार प्रार्थना की गई किन्तु हमेशा उन्होंने यह कह कर टाल दिया कि मैं बड़ा आदमी नहीं हूं।

बाद में मुझ से मेरे मित्रों तथा विशेष कर पं० चैनसुखदास जी न्याय-तीर्थ द्वारा बड़े दवाव से कहा गया कि मैं मास्टर साहब की संक्षिप्त जीवनी अवश्य दूं।

इसके लिये मैंने मास्टर साहव से अप्रत्यक्ष रूप से [illegible] प्रारम्भिक काल व वाद की वातें जानने की उत्सुकता प्रगट [illegible]। [illegible] का उत्तर जो मुझे आजन्म याद रहेगा यह था—सौभाग्य [illegible]

जाने दो पीछे बात करेंगे। आज हम नाम के पीछे मरने वालों के लिए इसमें कितनी गूढ बात छिपी है, स्पष्ट है, आत्म त्याग का ऐसा दूसरा उदाहरण ढूंढने से भी न मिलेगा।

अन्त में मैंने जो कुछ बातें मुझको मालूम थीं दीं अवश्य, किन्तु मास्टर साहब से छिपा कर और उनकी मर्जी के विरुद्ध।

रविवार, १६ जनवरी, १६४६ को (उनके स्वर्गवास के ठीक एक दिन पहले) उनकी एक फोटो प्राप्त की जा सके, इसलिये मैं श्री ईश्वरलाल बागड़ा को घर पर उनका फोटो लेने को लाया। जब ईश्वर लाल जी फोटो खींचने के लिये सामने खड़े हुये तो वे मुझ से पूछने लगे कि यह कौन है और हाथों से यों २ क्या कर रहा है। मैंने झूंठ मूंठ ही कहा कि मन्दिर में जो कंवरलाल जी आते हैं वे मिलने आये हैं और आप से हाथ जोड़ रहे हैं। मास्टर साहब ने शीघ्र हाथ जोड़ लिये और इशारे से कहा कि वे जायें और खड़े न रहें। जैसे तैसे फोटो ले ली गई किन्तु मास्टर साहब ने आजीवन कोई फोटो राज्य-सेवा से विदाई समारोह के अवसर के अलावा कभी नहीं खिचवाई।

मैंने मास्टर साहब से अपने ६ वर्ष के निकट सहयोग से अनेक बातें सीखी हैं और मैं अपने जीवन में यदि कुछ कर सका तो वह उनकी प्रेरणा का ही परिणाम होगा। मेरा अध्यापन का व्यवसाय चुनना भी उनकी इच्छा की पूर्ति ही है।

गणितज्ञ होकर भी सरल-स्वभावी और सहृदय

(श्री माणिक्य चन्द्र जैन)

स्वर्गीय मास्टर साहब मोतीलालजी उन इने गिने महानुभावों में से थे, जिनके हृदय में विश्वबन्धुत्व और विश्वकल्याण की मंदाकिनी सदैव तरंगित रहती है। 'सादा जीवन और उच्च विचार'—इस सिद्धान्त की तो वे साक्षात् प्रतिमा ही थे। सन् १६२४-२५ के सत्र में स्वर्गीय मुं० रामलालजी भार्गव ने सन्मति पुस्तकालय में पूज्य मास्टर साहब के दर्शन कराये। मैंने देखा कि एक गणित—अध्यापक इतना सरल स्वभावी और सहृदय व्यक्ति ! उनकी मीठी वाणी, पुरानी वेश भूषा और सौम्य आकृति ने मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव डाला। 'बेटा'—कहकर उन्होंने मुझे सम्बोधन किया, मुझ से मेरी आर्थिक स्थिति के

विषय में पूछताछ की। मेरे प्रति उनके हृदय में दया के भाव उदित हुए। उन्होंने उसी क्षण आज्ञा दे दी कि मैं नियमित रूप से उनकी व्यवस्था में अध्ययन करने लगूं। मेरा झुकाव दिनोंदिन उनकी ओर बढ़ता गया। श्रद्धा जागृत हुई। मैं उनको अपना संरक्षक और मार्ग दर्शक समझने लगा।

मेरी मान्यता है कि गणितज्ञ और दार्शनिक शुष्क और कठोर होते हैं। आदर्श की ओर उनका ध्यान रहता है, यथार्थ को वे भूल जाते हैं, पर पूज्य मास्टर साहब गणितज्ञ और दार्शनिक होते हुए भी आदर्श और यथार्थ का पूर्ण सामंजस्य चाहने वाले व्यक्ति थे। सरलता और उदारता उनके हृदय की उल्लेखनीय विशेषतायें थी। पौराणिक और दार्शनिक ग्रन्थों के धार्मिक एवं गंभीर अध्ययन के पश्चात मास्टर साहब इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि जीवन के लिए परिश्रम, प्रेम और परोपकार की प्रवृत्ति अत्यावश्यक है। मनुष्य को सरल स्वभाव तथा दयालु होना चाहिए। समाज से जितना लाभ हमको मिलता है, उससे अधिक हमें समाज की सेवा करनी चाहिये। सदैव निर्भय और प्रसन्न रहना चाहिए। यदि हम अपने 'अहम्' को मिटा देंगे तो हमें अपने मरने का भी डर रहेगा। मनुष्य को आवश्यकता से अधिक धन संचित नहीं करना चाहिए। न्याय-नीति से द्रव्य उपार्जन और संयत जीवन के द्वारा ही मनुष्य शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकता है।

मास्टर साहब भारतीय संस्कृति के पक्षपाती थे। मादक द्रव्यों के सेवन के वे घोर विरोधी थे। वे कहा करते थे कि मादक द्रव्यों का सेवन दुराचार करने और अन्तः करण की आवाज को दबाने के लिए किया जाता है। उनके सेवन से अन्तः करण मर जाता है। उनका कहना था कि त्याग के बिना धार्मिक जीवन संभव ही नहीं है, और त्याग की पहली सीढ़ी इन्द्रिय-निग्रह और तप है।

'मनुष्य जीवन पाया है तो कुछ कर गुजरो'

(श्री केवलचन्द ठोलिया)

संसार में मनुष्य आते हैं और चले जाते हैं, किन्तु कोई-कोई व्यक्ति अपनी छाप सदा के लिये छोड़ जाते हैं। वे नहीं रहते, पर उनकी याद अवश्य रहती है। मास्टर मोतीलालजी भी ऐसे ही मानव थे।

मास्टर साहब अपने ढंग के एक ही व्यक्ति थे। वे बहुत बड़े दार्शनिक लेखक व वक्ता नहीं थे किन्तु उनका जीवन स्वयं एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बन

गया था। अपरिग्रह, सादगी, सत्य और अहिंसा उनके जीवन में झलकने लग गई थी। गृहस्थी में रहते हुए भी उन्होंने त्याग और सेवामय जीवन व्यतीत किया। उनकी हमेशा यह उत्कट इच्छा रहती थी कि प्रत्येक मनुष्य सच्चा इन्सान बनकर रहे। बच्चों के साथ उनका वात्सल्य भाव उल्लेखनीय था। वे जिस किसी व्यक्ति के सम्पर्क में आते थे उसको यही सन्देश सुनाते थे— मनुष्य जीवन खोने के लिये नहीं है, इस शरीर पर जो नाशवान है इतना समय खोते हो, कुछ समय आत्म चिन्तन में भी लगाया करो। मनुष्य जीवन पाया है तो कुछ कर गुजरो। यह धन दौलत तुम्हारा साथ नहीं देंगे। शुभ कर्म करो। आलस्य में जीवन व्यतीत मत करो। अपने से जो कुछ मनुष्यता के नाम पर सेवा बन सके, वह अवश्य करो। उनके यह शब्द आज भी मेरे जीवन में स्फूर्ति का संचार करते रहते हैं।

वे धर्म को सुख का सोपान मानते थे। उनका विश्वास था कि सभी धर्म अच्छे हैं। भिन्न २ धर्मावलंबियों को उनके धर्मानुकूल ही पुस्तकें पढ़ने के लिये दिया करते थे। दार्शनिक गुत्थियों में उलझना वे पसन्द नहीं करते थे। वे जात-पांत के भेद-भाव को भी नहीं मानते थे। हरिजनों से घृणा करना व उनको पतित समझना, वे पाप समझते थे। वे उनकी अवस्था ठीक करना चाहते थे किन्तु समाज में किसी तरह का विद्रोह करके नहीं। उनका विश्वास था कि यदि हरिजन पढ़ लिख जायेंगे और उनका जीवन स्तर ऊंचा उठ जायगा तो अस्पृश्यता अपने आप समाप्त हो जायगी। इसीलिये वे किसी भी तरह समय निकाल कर हरिजनों के बच्चों को शिक्षा देने के लिए जाया करते थे।

प्राय: मनुष्य सेवा का बाना अपने नाम के लिये पहिनते हैं। ऐसे व्यक्ति कार्य कम करते हैं और प्रचार अधिक, लेकिन मास्टर साहब को अपने नाम का कोई खयाल नहीं था, वे तो निस्वार्थ भाव से सदा सेवा के लिए ही सेवा करना चाहते थे। वे यह नहीं चाहते थे कि कोई उनके कार्यों की प्रशंसा करे या प्रचार करे। इसी कारण उन्होंने आजीवन अपने सम्बन्ध में कोई लेख लिखने की कभी अनुमति नहीं दी और एकाध अवसर को छोड़ कर कभी उन्होंने अपना फोटो तक नहीं खींचने दिया।

शिक्षा की अपूर्व लगन

(श्री सुल्तानसिंह जैन)

जयपुर नगर में ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो मास्टर साहब स्वर्गीय श्री मोतीलालजी संघी से परिचित न हो। शिक्षित समाज पर तो चाहे जैन हो अथवा अजैन, मास्टर साहब के शिक्षा प्रेम की छाप लगी हुई है। उन्होंने अपना सारा जीवन विशेषतया राज-कार्य से मुक्त होने के पश्चात लगभग बीस वर्ष का समय इसी महान् उद्देश्य की पूर्ति में लगाया। रात-दिन, सोते-जागते, खाते-पीते, उनको यही लगन रहती थी कि समाज का कोई बालक अशिक्षित न रहे, कोई जैनी ऐसा न हो जो नियमित रूप से किसी जैन ग्रन्थ का स्वाध्याय न करता हो। उनका यह नियम था कि वृद्ध अवस्था में शक्ति न होने पर भी पुस्तकें बगल में दबाकर वे स्वयं लोगों के घरों पर जाते और बड़ी नम्रता से उनको नित्य स्वाध्याय करने की प्रेरणा करते। उनका स्थापित किया हुआ श्री सन्मति पुस्तकालय उनके शिक्षा प्रेम का एक प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे सामने है। मुझे स्वयं मास्टर साहब से स्कूल में शिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य तो प्राप्त नहीं हुआ परन्तु मैं सदैव उनको पिता तुल्य समझता था और गुरु से भी अधिक आदर की दृष्टि से देखता था। **एकदफा उन्होंने मुझे श्री आदिनाथ स्तोत्र ग्रन्थ संस्कृत मूल और भाषानुवाद सहित ऐसे प्रेम और आनन्द के साथ अध्ययन कराया कि आज तक उनके समझाने की शैली मेरे हृदय पर अंकित है।**

उनका हृदय बड़ा कोमल था। ऐसे दीन विद्यार्थी को देखकर जो आर्थिक संकट के कारण अपनी पढ़ाई चालू नहीं रख सकता हो उनका हृदय व्याकुल हो जाता था। उसकी सहायता करना अथवा कराना मास्टर साहब अपना परम कर्तव्य समझते थे। आज बहुत से ऐसे सज्जन जयपुर में मौजूद हैं जिन्होंने केवल मास्टर साहब की सहायता और परामर्श के कारण उच्च कोटि की शिक्षा और डिग्रियां प्राप्त की हैं। धन्य है वह महान आत्मा जिसके प्रयत्न के फलस्वरूप आज समाज में ऐसे रत्न दिखाई देते हैं।

मास्टर मोतीलालजी की जनसेवा

(श्री नृसिंहदास बाबाजी)

सन् १९२२ ई० में जब मैं स्व० श्री अर्जुनलालजी सेठी के पास अजमेर में आया तो उन्होंने मुझे अपने सभी इष्ट मित्रों एवं घनिष्ट सम्पर्कियों से मिलाया। स्व० सेठी जी मुझे तुरन्त ही जयपुर लेकर आए। यहां उन्होंने जिन विशिष्ट और प्रतिष्ठित व्यक्तियों से मुझे परिचित कराया उनमें से स्व० मास्टर मोतीलालजी संघी का नाम प्रथम पंक्ति में आता है।

स्व० संघी जी बाद में मुझे अपने घर चौमूं ले गए और उन्होंने मुझे खादी के विषय में जानकारी दी। तत्कालीन जयपुर राज्य में खादी प्रचार का निर्णय और श्री गणेश उनकी सलाह और सहयोग से ही हुआ। मास्टर जी के जीवन का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा था। वे वास्तव में एक साधक थे। वे आत्म संयमी एवं दृढ प्रतिज्ञ थे। उन्होंने बाकायदा साधु-दीक्षा तो नहीं ली थी पर वे साधु जीवन ही बिताते थे।

सन्मति पुस्तकालय की स्थापना कर उसके लिए उन्होंने अपना सारा जीवन ही समर्पित कर दिया। वे सभी विवादों से मुक्त ऐसा जीवन विताते थे जो न केवल जैन समाज के लिए अपितु मानव समाज के लिए अनुकरणीय है। जयपुर और राजस्थान के विद्यार्थियों के लिए तो विशेषकर उनके जीवन कार्यो की शिक्षा दी जानी चाहिए।

निस्पृह तथा मूक सेवा की कहानी

(श्री प्रकाशवती सिन्हा)

निःसन्देह श्री मोतीलाल जी संघी कर्त्तव्यनिष्ठ एवं परोपकारी व्यक्ति थे। उनका जीवन देश, जाति और समाज के निमित्त था। आज भी उनका व्यक्तित्व तथा आदर्श जीवन जन समाज के लिये आदर्श का मार्ग प्रदर्शित कर रहा है। श्री सन्मति पुस्तकालय उनकी निःस्पृह तथा मूक सेवा की कहानी अनेकों शिक्षा प्रेमी विद्यार्थी, महिला, नागरिक तथा जन समुदाय आदि से कह रहा है। ऐसे सेवा भावी एवं जन-सुधारक के प्रति अपनी श्रद्धांञ्जलि अर्पण करते हुये अमर एवं महान आत्मा के प्रति मैं अपना भक्ति भाव प्रकट करती हूं।

मानव समाज के मूक सेवक मास्टर मोतीलालजी

(श्री दुलीचंद साह)

मास्टर साहब वास्तव में ज्ञान के निःस्वार्थ पुजारी थे। उनका एक मात्र ध्येय यही था कि किसी प्रकार सच्चे ज्ञान का प्रत्येक मानव में प्रसार हो ताकि वह अपने आपको तृष्णा और मोह के गहरे गढ़े में से निकाल कर संतोष रूपी सुख की सांस ले सके। वे किसी एक के नहीं, वरन् सबके थे; साम्प्रदायिक होते हुए भी साम्प्रदायिकता के मैल से अलग थे। जब वे स्कूल में पढाते थे तब वे अपने पैतृक प्रेम के लिए प्रसिद्ध थे। **संभव है पिता को अपने पुत्र की आवश्यकताओं का ध्यान न रहे, पर मास्टर साहब अपने प्रत्येक विद्यार्थी की तरफ सजग थे। वे आज के शिक्षक के समान लापरवाह नही थे कि:—**

The hungry sheep look up and are not fed.

मुझको याद है जब हम मास्टर साहब के पास पढ़ा करते थे तो वे विद्यार्थियों को अपने पास से पैन्सिल व कागज दिया करते और ध्यान रखते कि हरेक बालक नित्य का कार्य कर लेता है या नहीं। यह सेवाभाव मास्टर साहब में प्रारम्भ से ही था। उनके प्रयत्न से सैकड़ों असमर्थ व असहाय विद्यार्थी उच्चकोटि की शिक्षा प्राप्त करने में सफल हो सके। मास्टर साहब की इस निःस्वार्थ वृत्ति को देख कर कई सच्चे दानी महोदय उनके द्वारा ज्ञान दान में पैसा लगा कर अपने द्रव्य का सदुपयोग करते और मास्टर साहब का बड़ा उपकार मानते थे।

मास्टर साहव की प्रेरणा से घर २ में ज्ञान का प्रचार हुआ। सहस्त्रों स्त्री-पुरुष स्वाध्याय प्रेमी बने। मास्टर साहब घर २ पहुंचते और पुस्तकें पढने का आग्रह करते और उनके घरों पर पुस्तकें पहुंचाते तथा लाया करते थे। उनके कार्य में आज का सा दिखावा नहीं था, न ख्याति ही के भाव थे। वे श्रम प्रिय थे और इस तरह उनका प्रत्येक क्षण ज्ञान के प्रसार में बीतता था।

मास्टर साहव जिस प्रकार ज्ञान के उपासक थे वैसे ही वे श्रद्धा और चरित्र में भी पीछे नहीं थे। वे पक्के श्रद्धालु व सच्चरित्र श्रावक थे। श्रद्धा, विवेक व सदाचार की वे साक्षात् मूर्ति थे। सादा जीवन व सादापन उनके जीवन के चिर संगी थे। वे यद्यपि अंग्रेजी स्कूल के अध्यापक थे लेकिन

वही उनकी प्राचीन ढ़ंग की अंगरखी-पगड़ी उनके गुरुत्व को, गौरव को सदा सुशोभित करती रही थी। वे सच्चे त्यागी थे। जिस प्रकार ज्ञान प्रसार के कार्य में उनके दिखावा नहीं था उसी प्रकार उनका समय सामायिक, आत्म चिंतन व आत्म शोधन ही में लगा रहता था।

जयपुर में महामना टोडरमलजी, जयचंदजी, सदासुखजी, दौलत रामजी, दीपचंदजी जैसे महान् नर रत्न हो गये हैं जिन्होंने ज्ञान के अगाध वारिधि को मथ २ कर अनेक मोती व लाल उत्पन्न किये लेकिन मास्टर साहब ने उन सबको अपनी सन्मति-दूकान में रखकर मानव समाज को बिना किसी कीमत के जो लाभ पहुंचाया है उसके लिये हम मास्टर साहव के चिर कृतज्ञ रहेंगे।

अनाथ विद्यार्थियों के साथी

(श्री अमरचन्द जैन)

शाम का समय था। मैं उस वक्त अष्टम श्रेणी में अध्ययन करता था। अचानक उस रोज एक सफेद पोशाकधारी महानुभाव ने पिताजी के नाम से आवाज दी। मैंने उनसे कहा कि पिताजी तो यहां पर नहीं है। आपको क्या काम है सो मेरे को वता दीजिये। इस पर महानुभाव ने नम्रता से कहा कि मुझे एक पुस्तक लेनी है। मैंने कहा कि आप अपना नाम बता दीजिये और साथ में यह भी बता दीजिये कि पुस्तक कहाँ भेजी जाय। इस पर उन्होंने अपना नाम मास्टर मोतीलाल संघी बताया और पुस्तक पहुंचाने के लिए श्री सन्मति पुस्तकालय का पता दिया। मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि आप ही श्री मास्टर मोतीलालजी संघी सन्मति पुस्तकालय के संचालक हैं। मुझे उन्होंने यह भी कहा कि यदि तुमको पुस्तक अध्ययन एवं मनोरंजन के लिये लेनी हो तो मेरे पास आजाया करो। इस प्रकार मेरा प्रथम परिचय मास्टर साहव से हुआ।

इसके पश्चात् पुस्तकों के आदान-प्रदान के लिए पुस्तकालय एवं मास्टर साहव के सम्पर्क में आया। धीरे धीरे मुझे मास्टर साहव की उदारता, सत्यता, देशभक्ति एवं स्वार्थ त्याग आदि गुणों का परिचय मिला। मास्टर साहब उस वृद्धावस्था में भी खाली हाथ बैठना पसन्द नहीं करते थे। वे हमेशा कुछ

न कुछ पुस्तकालय का काम ही करते थे। उनकी इस कार्यक्षमता को देखकर मैं यह सोचता हूं कि उनमें एक आधुनिक नवयुवक से भी अधिक कार्य-क्षमता थी।

मास्टर साहब के विचार भी बहुत ऊंचे दर्जे के थे। वे निम्नलिखित आशय ज्यादातर हर नवयुवक को कहा करते थे कि यदि हम अच्छी पुस्तकें पढेंगे तो अच्छे बनेंगे और बुरी तो बुरे। और इसलिये वे मानव जीवन के कल्याण के लिए जहां तक हो सकता था जनता के विभिन्न वर्गों से प्रार्थना किया करते थे कि वे अपनी खातिर नहीं वरन् मेरी खातिर गन्दी पुस्तकों का अध्ययन न करें।

उनमें शिक्षा प्रसार की भावना भी बहुत अधिक थी। वे अनाथ एवं असहाय विद्यार्थियों को आर्थिक एवं मानसिक जहां तक सम्भव था सहायता किया करते थे। यहां तक देखा गया है कि वे अनाथ विद्यार्थियों को अपने साथ ले जाकर विद्यालय में छोड़ आया करते थे। कहां तक लिखा जाय, मास्टर साहब देश के तथा समाज के अमूल्य रत्न थे। उनके स्वर्गवास ने हमारे समाज को कितनी क्षति पहुंचाई है, इसका ठीक-ठीक अनुमान लगाना असम्भव ही है।

हम कोई कर्म न करें जो ज्ञान मार्ग का अवरोध करें।

(श्री गोरधननाथ शर्मा)

मास्टर साहब मेरे जेष्ठभ्राता स्वर्गवासी पण्डित राजेन्द्रनाथजी एम० ए० के सहपाठी थे—और मुझे भी अपने बाल्यकाल में कई वर्ष मास्टर साहब से शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। वे एक मेधावी और उच्च आध्यात्मिक महापुरुष थे और सरकारी स्कूल में अङ्कगणित के अध्यापक थे। वैसे वे सभी विषयों में पारंगत थे किन्तु स्कूल में मिडिल तक उन्हें गणित पढानी पड़ती थी।

गणित जैसा कठिन और अरुचिकर विषय भी वे इतनी उत्कृष्ट शैली से पढाते थे कि विद्यार्थी को अत्यन्त रुचिकर होता। उन्होंने गणित के ऐसे नये और अद्भुत गुरू भी बनाये थे जिनसे बहुत से कठिन प्रश्न सहज में हल हो जाया करते थे। विद्यार्थियों के प्रति बिना भेद बुद्धि के इतना स्नेह और प्रेम था जिसका उदाहरण मिलना कठिन है।

मास्टर साहब स्कूल जाते समय दो बस्ते अपने साथ घर से ले जाते थे जिनमें कई प्रति गणित की पुस्तकें, पैन्सिलें स्लेटें आदि होती थीं। हर क्लास में जिस विद्यार्थी को इनमें से जिस वस्तु की आवश्यकता होती वे दे दिया करते थे। स्कूल में जब छुट्टियें रहतीं आप अपनी क्लासों के बालकों को स्कूल में बुलाते और पठन कार्य चालू रहता।

उनका घर एक निशुल्क पाठशाला थी। रात्रि में नौ बजे तक और दिन में शाला के समय के बाद वे आने वाले बालकों को बड़े प्यार से दत्त-चित्त होकर पढ़ाया करते मानों परिश्रम ही उनका जीवन था। उन्हें क्लान्त होते कभी देखा ही नहीं। मैंने न कभी उनको रुग्ण देखा और न निरुत्साहित।

शीतकाल में वे कानों और मस्तक पर एक गुलूबन्द लपेटे रहते और इसके लिए कई बार कहा करते कि मेरे बाल्यकाल की नासमझी से कानों व मस्तक को शीत से बचाने के उद्देश्य से गुलूबन्द लपेटने की बुरी आदत पड़ गई है अतः तुम ऐसी आदत कभी मत डालो। यदि कोई बालक कान लपेटे होता तो उसके कानों को तुरन्त उपरोक्त बात कहकर खुलवा देते।

वे अहिंसा के स्वरूप थे, जूते में कोई नाल बन्धा लेता तो वे बड़े ही मधुर शब्दों में उसे समझाते और मन, वचन काय द्वारा अहिंसक बनना मनुष्य मात्र का प्रथम कर्तव्य बताया करते।

विद्यार्थी जीवन निःशेष होने के बाद जब कभी मुझे उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होता मैं चरणस्पर्श के लिये ज्योंही नत मस्तक होता आप हट जाते और प्रेमविभोर होकर मेरा मस्तक हृदय से लगा लेते और संक्षेप में यह मन्तव्य प्रकट करते कि अभिमान जीव का परम शत्रु है, यह मनुष्य को मनुष्यता से शीघ्र च्युत कर देता है। अतः तुम्हें इससे सावधान रहकर दूसरे के प्रति ऐसे आचरण नहीं करने चाहियें जिनसे उसका पतन हो, उसमें अभिमान जागृत हो।

ज्ञान बहुत दूर की वस्तु है। इसकी प्राप्ति में हमारे कर्म बाधक हैं, इसलिए जो कर्म मनसा वाचा कर्मणा किये जायं उनको सूक्ष्म दृष्टि द्वारा पहिले जांच लेना चाहिये कि कहीं ऐसा कर्म तो हम नहीं करने जा रहे हैं जो ज्ञान मार्ग का अवरोध करता हो—यह आपका उपदेश था।

उनका अनुकरणीय व्यक्तित्व

(श्री ताराचन्द गंगवाल)

मास्टर संघी मोतीलालजी से मेरा प्रथम परिचय शायद सन् १९१२ में हुआ और सन् १९१३ से १९१८ तक तो मैं उनका शिष्य ही रहा—मेरे समय में वे मिडिल क्लास तक गणित ही पढ़ाते थे, पर पहिले वे अंग्रेजी वगैरह और विषय भी पढ़ाते बताये।

गणित पढाने में उस समय के अध्यापकों में मास्टर साहब का विशेष नाम था। गणित की प्राइवेट ट्यूशन के लिये मास्टर साहब की विशेष मांग रहा करती थी। फिर भी मास्टर साहब में उस जमाने से ही इतना संतोष था कि उन्होंने प्रतिदिन १–२ घण्टे अपने घर पर विद्यार्थियों को निःशुल्क पढाने को नियत कर रक्खे थे। घर पर आने वालों की संख्या काफी होती थी जिनमें बहुत से विद्यार्थी दूसरे स्कूलों के भी हुआ करते थे और इनमें कई तो मैट्रिक आदि ऊंचे दर्जो की पढाई के लिए भी आते थे।

मास्टर साहब की धर्मपत्नी का देहान्त मेरे सम्पर्क में आने के बहुत पहले ही हो चुका था। उस जमाने में वृद्ध विवाह काफी प्रचलित थे। मास्टर साहब की अवस्था तो उस समय बहुत ही कम थी, उनके लिये तो दूसरा विवाह करना साधारण ही बात होती, पर **मास्टर साहब के सिद्धांत बहुत ही दृढ थे।** वे दूसरी शादी करने पर उनके मित्रों के बारंबार आग्रह करने पर भी राजी नहीं हुए। वैसे तो उनके 'सुधारक' मित्रों में ऐसे भी थे जिन्होंने दूसरी ही नहीं तीसरी बार भी शादी की थी।

मास्टर साहब का सम्बन्ध उस जमाने के नेता स्वर्गीय पं० अर्जुनलाल जी सेठी से भी बहुत घनिष्ट था। मास्टर साहब भी पहले तो 'समिति' नाम की संस्था के सदस्य रहे पर निर्भीकता से विचार प्रकट करने के कारण या अन्दरूनी झंझटों से जल्दी ही उससे अलग हो गये। **मास्टर साहब सदा से ठोस कार्य करने वालों में से थे—दिखावे से उनको क्या वास्ता?**

उस समय के समाज सुधारकों में भी मास्टर साहब अग्रगण्य थे। अपनी लड़की की शादी की पद्धति में भी जो आज से ४०–४५ वर्ष से भी पहले हुई थी कई सुधार किये थे लड़के की सुधार पूर्ण शादी की तो मुझको खुद को याद पड़ती है। मेहतरानियों के जो उस जमाने में किसी भी विशेष

घटना के होते ही तुरन्त नया गीत जोड़ दिया करती थीं, 'सरावग्यां में नाता हो गया रे' शीर्षक गीत ने इस अवसर पर जयपुर दिगम्बर जैन समाज में काफ़ी हलचल मचादी थी।

मास्टर साहब का पढ़ाने का तरीका बड़ा ही रोचक व प्रभावशाली था। वे खुद तो पढ़ाने में मग्न होते ही थे, पर कोई विद्यार्थी भी उनकी कक्षा में अन्यमनस्क नहीं रह सकता था। क्लास मे सवाल न करने का कोई भी बहाना करना नामुमकिन था क्योंकि लिखने के लिये पैंसिल न होने पर पैंसिलों तक का स्टाक उनके अपने बस्ते में काफी रहा करता था और उसके टूट जाने पर उनको बनाने के लिये चाकू भी, अंक गणित की किताब का जो उस जमाने में काफी मोटी होती थी, बोझ ढोने से लड़के काफी जी चुराते थे पर तगड़ी मार पड़ने के डर से मजबूरन क्लास में रोज ले जाना पड़ता था। पीटने में भी मास्टर साहब मेरे समय में तो कम से कम सर्व प्रथम ही थे। शायद ही कोई उनका शिष्य उस जमाने में ऐसा बचा हो जिसके कान न खेंचे गये हों या जिस के घूंसे, मुक्के, चांटे न पड़े हों। मैं तो एक दफा की मार की याद कभी नहीं भूल सकता जब इम्तिहान में १०० में से ३५ नम्बर आने पर खानी पड़ी थी। सुना कि पिछले सालों में तो मास्टर साहब ने मारना छोड़ दिया था।

पुस्तकालय का बीज तो मास्टर साहब में मेरे पढ़ना प्रारम्भ करने के पहले ही अंकुरित हो चुका था—उनके पास कोर्स के अलावा सामान्य पुस्तकों का काफी स्टाक था जो वे आग्रह करके विद्यार्थियों को घर पर पढने के लिये दिया करते थे। उस वक्त तो उनका ध्येय अंग्रेजी की लियाकत सुधारना ही था। धीरे २ यह अकुर 'श्री सन्मति पुस्तकालय' के रूप में बढ गया। किताबों में विशेष कर निर्धन विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिये कोर्स की भी किताबों के कई सैट रहा करते थे। विद्यार्थियों को इम्तिहान की फीस और दूसरे प्रकार से रुपयों की सहायता देने के लिये विशेष रूप से प्रख्यात थे। लेकिन कहां से रुपया बटोर कर यह कठिन कार्य वे कर पाते थे। इसकी जानकारी तो उन्हीं के साथ चली गई।

वैसे तो उपन्यासों से मास्टर साहब को चिढ़ ही थी पर एक बार वे 'अनाथ बालक' कहीं से ले आये—मुझे आज भी याद है उनका कुछ अंश क्लास में सुनाते जाते थे और आंखों से आंसुओं की धारा बहती जाती थी।

मास्टर साहब अंतःकरण से जैन धर्म में दृढ़ विश्वास रखते थे जो दूसरों की निगाह में शायद धर्मान्धता तक पहुंच गया हो, पर उनमें द्वेष की मात्रा तो रंच मात्र नहीं थी। कई विद्यार्थियों को तो वे धर्म अत्यन्त आग्रह के साथ पढ़ाते थे जो टालना कठिन था। दूसरे दिन फिर याद करके सुनाना पड़ता था, इसलिये याद करना आवश्यक हो जाता था। कुछ समय के लिये इस तरह फंसने वालों में मैं भी था।

नियम के पक्के तो वे अंत तक रहे। दो वार से ज्यादा वे भोजन कभी नहीं करते थे। दवा भी लेनी होती तो भोजन के साथ ही लेते। कितनी भी तकलीफ हो भोजन के समय के अलावा अंत तक दवा लेने को राजी नहीं हुए। एलोपैथी में बेशक विश्वास था, पर पिछले दिनों में हिंसा के खयाल से डाक्टरी पढ़ने को विद्यार्थियों को उत्साहित करना छोड़ दिया था।

फोटो खिचवाने से मास्टर साहब को अत्यन्त नफरत थी। अगर किसी ने जबरदस्ती फोटो खेंचने की कोशिश भी की तो खफा होते थे और मुंह ढक लेते थे। किसी भी प्रकार का विज्ञापन अथवा प्रदर्शन उन्हें कतई पसन्द नहीं था।

एक मिनिट भी समय व्यर्थ खोना उन्हें नापसन्द था। पुस्तकालय की किताबों के कवर उनके खराब न होने के लिये अक्सर बैठे बैठे चढ़ाया करते थे और आने जाने वालों के साथ बात भी करते रहते थे। अगर कोई बात करने वाला नहीं हुआ तो मन ही मन भजन गुनगुनाते रहते थे।

मेरी तो यह धारणा है कि मास्टर साहब जैसी विभूतियां संसार में कभी कभी ही जन्म लेती हैं। उनका व्यक्तित्व वास्तव में अनुकरणीय है।

पुण्यवान परमार्थी मास्टरजी

(श्री पूर्णचन्द्र जैन)

उस दिन प्रातः स्मरणीय मास्टर मोतीलालजी सिंघी के स्मृति दिवस के सम्बन्ध में आयोजित एक सभा में मुझ से भी श्रद्धांजलि के दो शब्द कहने के लिए सभापति का आदेश मिला। बोलना कुछ कठिन नहीं था और उठकर बोला भी। किन्तु हृदय गद्‌गद् रहा और मस्तिष्क में एक के बाद दूसरा चित्र अंकित होकर पुरानी स्मृतियों को ताजा करता गया।

उनकी स्मृति में प्रकाशित किये जाने वाले ग्रन्थ के लिए दो पंक्तियां लिखने के लिए बैठता हूँ तो वही स्थिति हो जाती है। श्रद्धा के दो अकिंचन फूल वाणी द्वारा प्रस्तुत करूं या लेखनी द्वारा अर्पित, मास्टरजी की पावन याद शरीर को उनके समीप ले जाकर तन्मय कर देती है और श्रद्धा अर्पण का कार्य विस्मृत हो जाता है।

लगता है कि यह लिखने, बोलने और धरती पर यों चलने की जो कुछ क्षमता मुझ में है उसका कोई एक जन्मदाता और पोषक हो सकता है तो वह मास्टर मोतीलालजी ही थे। उनका अत्यधिक उपकृत हूं या कि आज जो कुछ हूँ उसका सम्पूर्ण श्रेय मास्टरजी को है, इतना भी कहने में वह सब समाविष्ट नहीं हो सकता जो कुछ उनके बारे में कहा जा सकता है और मेरे जैसे व्यक्ति द्वारा कहा जाना चाहिये। **असल में पार्थिव वाणी और लेखनी मां के वात्सल्य और धात्री वसुंधरा के निस्वार्थ भरण पोषण भाव को क्या कभी व्यक्त कर सकती है? माता पिता के प्रति सन्तान उपकृत होने की क्या बात कहे और उस उपकार से उऋण होने की वह क्या धृष्ट कल्पना करे? मेरे लिए मास्टरजी मां और धात्री वसुंधरा से कुछ कम नहीं बल्कि ज्यादा ही थे।**

एक जीता जागता चित्र सामने आता है। गौर वर्ण का, सौम्य भरी हुई मुखाकृति वाला, वेश भूशा और चाल ढाल के बारे में उदासीन, एक व्यक्ति मन ही मन भजन गुनगुनाता धीमी शान्ति गति से चला आरहा है। बगल में किताबों का एक बस्ता है, हाथ में कुछ नये पुराने अखबार है। अपने प्रिय चुनिन्दा भजन व पदों के हस्तलिखित संग्रह की कई जिल्द बन्धी कापियों में से एक कापी भी साथ है। मोटी खद्दर की धोती, मोटे ही वस्त्र का कुरता या अचकन, सिर पर पगड़ी, कभी नगे सिर, और सर्दी में कभी रुई का टोपा सिर पर लगा, धीरे धीरे वह व्यक्ति चला आ रहा है। विद्यार्थी सामने आया। उसे रोका और पूछना शुरु किया, "क्यों भाई, पढते हो, पढ़ाई कैसी चल रही है, अबके इम्तिहान में नम्बर कैसे आये और भी कुछ किताबे देखते हो? धर्म सदाचार की पुस्तकें भी देखा करो, माता पिता अच्छे है, तुम्हारे उस साथी को नही देखा... इत्यादि"। उस व्यक्ति का स्नेह और अपनापन, अच्छे रास्ते पर चलने और अच्छे रास्ते पर लाने की उत्कृष्ट भावना, हर शब्द में और कदम में देख लीजिए। विद्यार्थी किसी जाति का हो, किसी उम्र का और किसी भी धर्म या मजहब को मानने वाला, उसके पढ़ने लायक किताब वह व्यक्ति उसे बताता है और उसी के धर्म की अच्छी समझने लायक पुस्तक उसे वह व्यक्ति देता है। यह व्यक्ति है मास्टर मोतीलालजी।

मास्टर मोतीलालजी 'चौमू वाले' नाम से प्रसिद्ध थे और एक सामान्य राजकीय स्कूल के साधारण मास्टर मात्र वे थे। तनख्वाह उस जमाने की वही मामूली पचास साठ रुपये होगी, फिर भी हर प्रकार की अच्छी पुस्तकों के संग्रह, उन्हें आबाल वृद्ध व्यक्तियों को पढ़ने देने व विद्यार्थियों को हर तरह की मदद पहुंचाने की उनकी साध असीम थी। पहले घर ही पर पुस्तकें रखीं। घर घर जाकर पुस्तकें दीं और घर घर से वापिस लाये। मन्दिर में स्थान मिल गया तो वहां पुस्तकालय जमाया और उसमें पुस्तक को रजिस्टर में दर्ज करने, उस पर गत्ता चढाने, उसे जावक रजिस्टर में लिख कर देने, पढने वालों के नाम का खाता तैयार करने आदि का काम वे ही निरन्तर करते। स्कूल के अध्यापन कार्य के साथ यह साधना और ज्ञान-दान बराबर चलता रहा। चारों ओर मंडराने वाले-शिष्य-समुदाय और पाठकवर्ग में से कुछ से मदद उन्होंने भले ही ली हो, किन्तु नौकर रखने व टीपटाप और विज्ञापन में एक पैसा खर्च नहीं किया।

उस विद्यार्थी-समुदाय और व्यक्ति-समूह की संख्या का आज कोई अनुमान नहीं लगा सकता जिसने मास्टर मोतीलालजी की मूक साधना, निस्वार्थ सेवा और निरभिमान की गई सहायता से जीवन में सफलता प्राप्त की। सहायता देने वाले ने उनके प्रत्यक्ष या परोक्ष तत्संबंधी आदेश से अपने आपको कृतज्ञ अनुभव किया और सहायता पाने वालों को कैसा जीवन-दान मिला यह तो वह ही अनुभव कर सकता था जिसने सहायता पाई। ट्यूशनें दिलवाकर, पुस्तकादि साधन देकर, माता पिता की किसी निराशा या कठिनाई के कारण विद्यार्थी का शिक्षा-क्रम टूटता है तो वह दूर करके, परीक्षा के दिनों में अतिरिक्त समय व शक्ति पढ़ाने में लगाकर, अनेक भांति से उन्होंने साधनहीन, निस्सहाय हजारों ही विद्यार्थियों को पांव पर खड़ा होने योग्य बना दिया और प्रतिभा कहीं मिट्टी में मिल जाती उसे चमक उठने का अवसर दिया। शिक्षा और जो ज्ञान-प्रसार के इस कार्य के साथ चरित्र-निर्माण और अपने अपने धर्म के प्रति दृढता रखने व उसे समझने की रुचि उत्पन्न करने का भी वे बराबर ध्यान रखते थे। मन्दिर में मुसलमान नहीं आ सकता था तो उसके लिए वे नई पुस्तकें स्वयं मंदिर के बाहर आकर देते, पहले की पुस्तकें वापिस ले आते और उसकी पढ़ाई, उसके घर की हालत, उसकी पुस्तकों सम्बन्धी रुचि आदि के बारे में बातचीत करते।

किस प्रसंग को याद किया जाय और किस किस का यहां उल्लेख किया जाय! वह गाथा अनन्त है और उसे शब्दों की सीमा में बांधना असम्भव है। उनसे और उनके द्वारा सहारा पाकर चल खड़े होने वाले और जीने वाले उस समय के हजारों विद्यार्थी आज वयस्क होकर उनकी जीवित स्मृति बन गये हैं। चिर-कृतज्ञता की श्रद्धांजलि वे जीवन पर्यन्त अर्पित करते

रहेंगे। मेरी यह श्रद्धांजलि भी उस पुण्यवान् परमार्थी के चरणों को स्पर्श करने वाली जल राशि में एक बिन्दु रूप सम्मिलित होगी इस विचार से मैं धन्य हूं।

वे गृहस्थ होकर भी साधु से अधिक थे

(श्री राजमल छाबड़ा)

स्वर्गीय संघी मोतीलालजी मास्टर वास्तव में सच्चे मोती थे। प्रारम्भ में मेरा निकट परिचय मास्टर साहब से मुख्यतया मेरी घरेलू परिस्थितियों के कारण हुआ था। मेरे दत्तक माता-पिता बिलकुल पुराने विचारों के व्यक्ति थे। आठवें, गोरणी, मृत्यु भोजन, लेन देन और जेवर इत्यादि के लिए उनके पास पैसे की कोई कमी नहीं थी, लेकिन मैट्रिक पास करने के पश्चात उन्होंने मेरी शिक्षा के लिए व्यय करना निरर्थक समझा था। यदि मास्टर साहब से मेरा सम्पर्क न हुआ होता तो मैं हरगिज भी बी० ए० की परीक्षा पास नहीं कर सकता था।

मैं हर समय मास्टर साहब को सेवा के व ज्ञान प्रसार के कार्यों में ही लगा हुआ देखता था। वे स्वयं घूमते फिरते पुस्तकालय थे। लोगों के घरों पर जाकर पुस्तकें इकट्ठी कर लाते थे और दे भी आते थे। जहां तक मेरी जानकारी है उन्होंने पुस्तकालय के लिए कभी भी विशेष रूप से धन संग्रह करने का प्रयत्न नहीं किया लेकिन फिर भी उनके पास पुस्तकें खरीदते रहने तथा विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता देने पर भी मैंने कभी उनके पास रुपये की कठिनाई नहीं देखी। सेवा करने में उनके पास जात-पांत का भेद नहीं था। जयपुर के हर समाज का व्यक्ति उनका सम्मान करता था और बिना किसी रसीद के रुपये भेट करता था। वैसे तो सैंकड़ों क्या हजारों व्यक्ति मास्टर साहब के प्रति आभारी हैं लेकिन मैं तो इतना कृतज्ञ हूँ कि जिसका वर्णन करने के लिए मैं असमर्थ हूं।

मास्टर साहब गृहस्थी थे लेकिन गृहस्थी होते हुए भी निर्मोही थे और ऐसे साधु या मुनि से अच्छे थे जिसका कि उल्लेख रत्न करंड श्रावका चार के निम्नलिखित ३३ वें काव्य में उल्लेख है :—

> गृहस्थी मोक्षमार्गस्थी निर्मोहो नैव मोहवान्
> अनगारी गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुने।

मास्टर साहब विद्यार्थियों के लिये संसार में पैदा हुए थे।

(श्री विद्याप्रकाश काला)

मास्टर साहब की शीलयुक्त तथा कर्ण प्रिय वाणी भूले भटके छात्रों को सच्चे मार्ग में लगाने के लिए जादू का काम करती थी। उनकी शक्ति का बड़ा रहस्य इसी बात में छिपा हुआ था कि उन्होंने अनेक बिगड़े हुए छात्रों को ऊपर उठाया और उन्हें एक लक्ष्य प्रदान किया।

मास्टर साहब गरीब-अमीर सभी विद्यार्थियों के लिए थे। गरीबों को सहायता दिलवाना तथा अमीर बिगड़े हुए छात्रों को रास्ते लगाना, यही उनका नित्य का काम था। एक शब्द में उनके जीवन का सार विद्यार्थियों को सार्थक तथा सदुपयोगी बनाना था। जैसा कि प्रायः सुकरात के लिए कहा जाता है कि वह 'तर्क' के लिए जन्मे थे या नैपोलियन के लिए कि वे 'विजय' के लिए संसार में आए थे, उसी प्रकार मास्टर साहब संसार में विद्यार्थियों के लिए ही पैदा हुए थे।

मैं कई दफा मास्टर साहब से मिला हूं। मैंने अपनी पढ़ाई स्कूल में प्रारम्भ की थी—उस समय मेरी मास्टर साहब से पहली भेंट हुई थी। स्कूल में भर्ती होना था। मास्टर साहब ने हैड मास्टर से मेरी सिफारिश की और मुझे स्कूल में भर्ती करवा दिया।

स्कूल की छुट्टी के बाद मुझे उनसे आदेश मिला कि मैं नित्य उनके घर पर तीन बजे हाजिर होऊं। मैं जाने लगा। मुझे उन्होंने आवश्यक पुस्तकें अपने पुस्तकालय से दी और अन्य छात्रों के साथ जिस विषय में मैं कमजोर था—उस विषय की कमजोरी दूर करने के लिए उन्होंने मेरे लिए प्रबन्ध किया।

कुछ वर्षों बाद मैं उनसे फिर मिला। मैं इस समय एम० ए० पास कर चुका था। मेरे इस समय एक असाधारण फोड़ा हो रहा था। मेरे पूज्य पिताजी मास्टर पांचूलालजी ने मुझे सुझाव दिया था कि मैं मास्टर साहब से मिल लूं। किसी कारणवश वे मेयो अस्पताल में ही रहते थे। मास्टर साहब ने मेरी हालत देखी और उसी समय आपरेशन रूम में लेजाकर अपने सामने मेरा आपरेशन करवाया तथा मुझे घर तक पहुंचाने का प्रबन्ध किया।

इसके बाद एक सामाजिक समारोह के अवसर पर उनसे मेरी फिर भेंट हुई। इस समय मैं सीकर में इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल के पद पर कार्य कर रहा था। वे मुझ से ऐसे मिले मानो एक पिता अपने पुत्र से कई दिनों बाद मिलता है। बहुत देर बातों के पश्चात् उन्होंने मुझे धार्मिक पुस्तकों के स्वाध्याय करते रहने का आदेश दिया तथा 'सोहम्' मंत्र को अवकाश के समय जपते रहने के लिए मजबूर किया।

मास्टर साहब में इतनी अधिक चारित्रिक विशेषताएं और शक्ति के स्रोत विद्यमान थे कि उनका वर्णन किस प्रकार किया जाय यह कठिन है। वे शुरू से ही स्वाध्याय प्रेमी थे और धार्मिक ग्रन्थों को बड़े प्रेम और श्रद्धा से पढा करते थे। उन्हें प्राचीन कवियों के भजनों का बड़ा शौक था। पंडित दौलतरामजी, भूधरदासजी, भागचंदजी आदि के सैकड़ों भजन उन्होंने कंठस्थ कर लिए थे।

सच तो यह है कि मास्टर साहब एक सच्चे और बड़े शिक्षक थे। वे लोगों को शिक्षित करना अपना फर्ज समझते थे। उन्होंने बहुत से असहाय छात्रों को ऊंची परीक्षायें पास करवाईं तथा भूले भटके साथियों को मार्ग बताया। इसका नतीजा यह है कि मास्टर साहब मर चुके हैं फिर भी वे आज जीवित हैं।

पावन स्मृति

(श्री सिद्धराज ढड्ढा)

श्रद्धेय मास्टर साहब की याद आते ही बचपन के जीवन का एक अध्याय ही मानों आँखों के सामने आजाता है। उन दिनों मैं स्कूल जाता था। मास्टर साहब मोतीलालजी जिस स्कूल में पढ़ाते थे उसमें तो सीधे इनसे पढ़ने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला, पर वे अपने पुस्तकालय से लड़कों को पढ़ने के लिए किताबें दिया करते थे इसलिए मैं भी उनके पास पहुंचने लगा। जब मैं किताब लेने उनके यहां पुस्तकालय में पहुंचा तो वे जो मैं माँगता उसके अलावा अपनी ओर से कुछ और भी किताबें सदाचार, धर्म या नीति सम्बन्धी सामने रखते और अमुक पुस्तक पढने का आग्रह भी करते। उनका यह नियम सा बन गया था कि वे कुछ किताबें अपने बगल में लेकर निकलते और जो बच्चे या बड़े उनके सम्पर्क में आये हुए होते उनके घर पहुंचकर नई किताबें देते, पुरानी-बटोरते और दो

चार बात सीख की कह कर आगे चल देते। उनकी इस 'सरस्वती-यात्रा' का प्रवाह पावन गंगा की तरह निरन्तर बहता हुआ मैंने देखा और कितने बालक उस पवित्र धारा के सम्पर्क में आकर प्रभावित हुए होंगे ! मेरे मन पर तो मास्टर साहब की सरलता, सादगी और धर्म प्रियता की गहरी छाप पड़ी थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि उनके प्रति मेरे मन में बहुत आदर था और ज्यों२ बड़ा होकर में दुनियां को समझने लगा त्यों २ तो यह आदर-भावना दिन ब दिन बढ़ती गई। आज भी उस पावन व्यक्ति की तस्वीर जब स्मृति की आंखों के सामने आती है तो मन ही मन सिर आदर से झुक जाता है।

काश हमारे समाज में ऐसे 'शिक्षक' ज्यादा होते। वे सचमुच एक आदर्श 'शिक्षक' थे। उन्हें जो वेतन मिलता होगा उसमें अपना गुजर करके बाकी का सारा समय और शक्ति वे इस तरह सद्ज्ञान और सदाचार के प्रचार में लगाते थे और अपनी निष्ठा से बालकों को प्रभावित करते थे, वे चाहते तो आज के अध्यापकों की तरह वे भी अपने समय का एक २ मिनिट 'ट्यूशन' करने में लगाकर थोड़ा पैसा और पैदा कर सकते थे, पर उन्होंने संतोष को अपना लिया था और इसीलिये अध्यापकी का वेतन तो वे छः सात घंटे की नौकरी का ही पाते होंगे पर अपना सारा फाजिल समय इसी काम में निस्वार्थ बुद्धि से लगा देते थे।

लड़कपन की जो थोड़ी सी स्मृतियां अब भी ताजा हैं उनमें आदरणीय मोतीलालजी 'मास्टर साहब' की याद और उनकी सरलता व प्रेम की वह मूर्ति आज भी ज्यों की त्यों आंखों के सामने आ जाती है। उनकी इस पावन याद में शतशः प्रणाम !

पितृ-स्वरूप मास्टर साहब

(श्री प्रवीणचन्द्र जैन)

सन् १९२४-२५ से पहले की बात है। तब मैं उपाध्याय श्रेणी में पढ़ता था। मैं सुना करता था कि दड़े पर एक पुस्तकालय है, वहाँ मास्टर साहब लोगों को पढ़ने के लिए मुफ्त पुस्तकें देते हैं। मुझे कहानियों और उपन्यास की पुस्तकें पढ़ने का शौक था। एक दो साथियों के साथ मास्टर साहब के पास पहुंचा। केवल धोती पहने हुये सौम्यमूर्ति मास्टर साहब के सामने दो बड़े २ रजिस्टर रखे हुए थे। बीस पच्चीस आदमी पुस्तकें लेने-देने के लिए

मास्टर साहब के मुंह की ओर देख रहे थे। वे ही पुस्तकें जमा करते दूसरी पुस्तकें देते। कौनसी पुस्तक पढ़ने की है कौनसी नहीं यह सलाह देते। एक व्यक्ति के साथ लगभग दस मिनट तो लग ही जाते थे। इसलिए पुस्तकें लेने वालों को काफी प्रतीक्षा करनी पड़ती थी, पर इन प्रतीक्षा के क्षणों में जो कुछ सुनते और देखते थे वह अपने आप में ऐसे लाभ की चीज थी जिसे छोड़ना उन लोगों को अच्छा नहीं लगता था।

पुस्तकें लेने वालों में अधिकतर विद्यार्थी होते थे जिन में से अधिकांश को वे व्यक्तिगत रूप से जानते थे। अमुक विद्यार्थी कौनसी कक्षा में पढ़ रहा है। उसका समय जिस जिस तरह बीतता है। उसको पाठ्य पुस्तकें मिली हैं कि नहीं। परीक्षा की फीस की उसने क्या व्यवस्था की है। भोजन और कपड़े की क्या व्यवस्था की है। यदि सामने का व्यक्ति जैनेतर हुआ तो उससे पूछते तुमने गीता या उपनिषदों की पुस्तकें हिन्दी में देखी हैं कि नहीं। वे यह भी सहज स्नेह से बताते कि अमुक धर्मग्रन्थ या दर्शन की पुस्तक का अमुक संस्करण अभी हाल ही में पुस्तकालय में खरीदा गया है, वह पढ़ने योग्य है। जैन होता तो उसे जनधर्म की उपयोगी पुस्तकें आग्रहपूर्वक बताते। जीवन का उद्देश्य त्यागमय होना चाहिये, ग्रह या परिग्रह वाली बात को अच्छी नहीं बताते थे। जो चीज अपने उपयोग में नहीं आती हो उसे दूसरे जरूरतमन्द लोगों को दे देना चाहिए। इस तरह की बातें उनसे करते रहते।

मैं यह सब देख रहा था। उनकी नजर मुझ पर गई। पूछा तुम कैसे आये हो। मैंने साथी की ओर इशारा करके कहा इनके साथ आया हूं। इन्होंने बताया कि आप बिना जमानत लिए अच्छी अच्छी पुस्तकें पढ़ने को देते हैं। मुझे भी कहानी उपन्यास की पुस्तकें दीजिए। फिर मुझसे उन्होंने यह जाना कि मैं सस्कृत पढता हूं तब तो वे बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे अपना समय कहानी उपन्यास में क्यों लगाते हो। मैं तुम्हें अच्छे जीवनचरित्र दूंगा। वे उठे और सामने की अलमारी के पहले खण्ड में पीछे की तरफ से ३-४ पुस्तकों में से दो पुस्तकें निकाल कर उन्होंने मुझे दी। वे पुस्तकें मुझे रुचिकर नहीं मालूम दी तो उन्होंने कहा कि दो चार दिन अपने पास रखो और जब थोड़ा समय मिले तो इन्हें पढ़ना। फिर मेरे पास आना। इस तरह फिर कई बार मैं उनके पास जाता आता रहा। कभी मेरे मनकी पुस्तक मिल जाती, कभी नहीं।

(२)

उपाध्याय की परीक्षा पास करने के बाद मैं शास्त्री की परीक्षा देना चाहता था। उन दिनों दि० जैन समाज में पार्टीबन्दी बड़े जोर से चल रही

थी। सुधारक और स्थिति पालक दोनों मुझे अपनी ओर खींचना चाहते थे। मुझे मिथ्या आग्रहों से और बनावट से प्रारम्भ से ही घृणा रही है सुधार प्रेमी लोगों के वातावरण में रहने से मेरे ऊपर दूसरे पक्ष वालों की को दृष्टि पड़ी। दि० जैन पाठशाला (आज का दि० संस्कृत कॉलेज) में उच्च अध्यापक की व्यवस्था नहीं थी और मेरे लिए व्यवस्थापक महोदय कोई विशे प्रबन्ध भी नहीं करना चाहते थे। तब मैंने यह चाहा कि सरकारी संस्कृ कॉलेज में पढ़ूं। तत्कालीन शिक्षा-विभागाध्यक्ष और शिक्षा-सचिव दोनों से प्रोत्साहन पाकर मैंने वहां पढ़ने के लिए आवेदन-पत्र दिया, पर संस्कृत कॉलेज के अध्यापकों ने मेरे जैन होने के कारण मेरा वहां प्रवेश पाने का अधिकार नहीं समझा। सरकार ने उनका पक्ष लिया और मेरे सामने ऐसी स्थिति पैदा हो गई कि मैं संस्कृत पढ़ना छोड़ दूं। इसी बीच मेरा सम्पर्क मेरे पिताजी के निकट परिचित श्री मोहनलाल जी पापड़ीवाल से हुआ। भाई मोहनलाल जी जीवन-निर्माण कार्य में प्रारम्भ से ही रुचि लेते रहे हैं। जब उन्हें पता लगा कि मैं पढ़ना छोड़ रहा हूं तो वे मुझे मास्टर साहब के पास ले गए। मास्टर साहब ने सारी बात सुन कर मुस्कराते हुए कहा—घबराने की क्या जरूरत है, तुम्हारे पढ़ने की अच्छी व्यवस्था कर दूंगा, तुम पुस्तकालय में आकर पढ़ा करो। उन्होंने पू० पं० दामोदर जी आचार्य से जो वहां महाराजा कालेज या हाई स्कूलों के संस्कृत के छात्रों को प्राइवेट पढ़ाया करते थे कहा कि वे मुझे दो घंटे रोज अलग पढ़ाया करें। इसके बाद उन्होंने मेरी सहायता कई तरह से की और मैं शास्त्री परीक्षा में बैठा और सफल हुआ।

(३)

शास्त्री परीक्षा पास कर लेने पर मैंने फिर चाहा कि संस्कृत कॉलेज में पढ़ कर मैं आचार्य परीक्षा भी दे डालूं। घोर प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में मास्टर साहब ने काफी योग दिया। मेरे साथ वे कई अधिकारियों से और समाज के गणमान्य लोगों से भी मिले। पर जब कट्टरता की दीवार जरा भी नहीं हिल सकी तो मैंने आचार्य परीक्षा देने का विचार छोड़ दिया। मैंने मास्टर साहब से कहा कि मैं अब मैट्रिक परीक्षा देना चाहता हूं और इस तरफ अपने शिक्षा-क्रम को मोड़ देकर आगे पढ़ना चाहता हूं। उन्होंने इस विचार का स्वागत किया और तब मैंने मैट्रिक और इसके बाद इंटरमीजियेट की परीक्षा पास की। मेरी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी, इसलिए मैं दरबार हाई स्कूल में हिन्दी अध्यापक के पद पर नियुक्त हो गया। मास्टर साहब भी तब उसी हाई स्कूल में पढ़ाते थे। इस तरह से चार साल तक मुझे उनके सहयोगी साथी बन कर काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन दिनों मेरे

विचार उनके विचारों से मेल नहीं खाते थे। खान-पान के सम्बन्ध में जाति बिरादरी का बधन मुझे कभी प्रिय नही रहा। मैं अपने विद्यार्थियों के साथ उनके इच्छापूर्ण आग्रहवश भोजन करने में नहीं हिचकता था। मास्टर साहब को यह बात पसन्द नहीं थी। वे मुझसे तो कुछ नहीं कहते थे, पर उन छात्रों को बुलाकर उन्हें इस तरह के खानपान में बुराई बताते थे और प्रायश्चित्त भी करवाते थे। जब मुझे मालूम होता तो मुझे बुरा लगता था। मैं उन छात्रों की क़मजोरी पर उन्हे समझाता था। उनकी स्थिति विचित्र होती थी। एक दो बार मैंने मास्टर साहब से विनयपूर्वक कहा कि यदि मेरे किसी आचरण से उन्हें बुरा लगता हो तो वे मुझे समझाएं, मैं दुराग्रह नहीं करूंगा, तो वे मुझ से यही कह कर टाल देते थे कि छात्रों को संयम से रहना सिखाना चाहिए। जब मैं जोर देकर कभी कहता कि साथ खाने-पीने में कौनसी बुराई है, उसी समय जब कि वे दूसरे लोगों के साथ एक थाली में बैठकर खाते पीते हों, तो वे मुझ से यही कह देते थे कि तुम तो अधर्मियों की सी बातें करते हो।

मैंने एम० ए० पास किया, इसके बाद पी-एच० डी० की तैयारी में लगा, तो एक दिन उन्होंने कहा कि अब क्या करने का विचार है। मैंने अपना विचार बताया। वे कहने लगे जिस तरह पैसे का संग्रह बुरा है उसी तरह ज्ञान का केवल संग्रह भी बुरा है। अब तुम्हें संग्रह को छोड़कर वितरण में लगना चाहिए। अपने धर्म को देखना चाहिए। उनकी इस बात का मुझ पर असर हुआ और मेरा वह प्रयत्न शिथिल पड़ गया। एक बार उन्होंने मुझ से पूछा कि मेरा धर्म के सम्बन्ध में क्या विचार है। सम्भवतः मेरे स्वतन्त्र विचारों और उनके फलस्वरूप आचरणों को पसन्द न करके उन्होंने मुझ से यह प्रश्न किया था। मैंने कहा आप इसका स्पष्ट उत्तर चाहते है या बनावटी? उन्होने विश्वास दिलाया कि वे मेरे स्पष्ट उत्तर से अधिक प्रसन्न होंगे। तब मैंने कहा कि मुझे मानवधर्म या इन्सानियत प्रिय है, इसके विपरीत मैं किसी भी बात को श्रद्धापूर्वक नहीं मान सकता। फिर उन्होंने पूछा कि तुम जैन धर्म को नहीं मानते हो क्या? मैंने कहा मुझे जैन धर्म से ही नहीं किसी भी धर्म से मोह नहीं है। जैन धर्म की अच्छी बातें मुझे उसी तरह मान्य हैं जैसे दूसरे धर्मों की अच्छी बातें। इस पर उन्होंने कहा कि बस अब मैं तुम्हें धर्म के सम्बन्ध में कभी कोई बात नहीं कहूंगा। तुम अपनी राह चलने में स्वतन्त्र हो। इसके बाद हम लोग मिलते रहे-कई बार बहुत से प्रसंगों में, पर कभी धर्म के विषय पर कोई बात नहीं हुई।
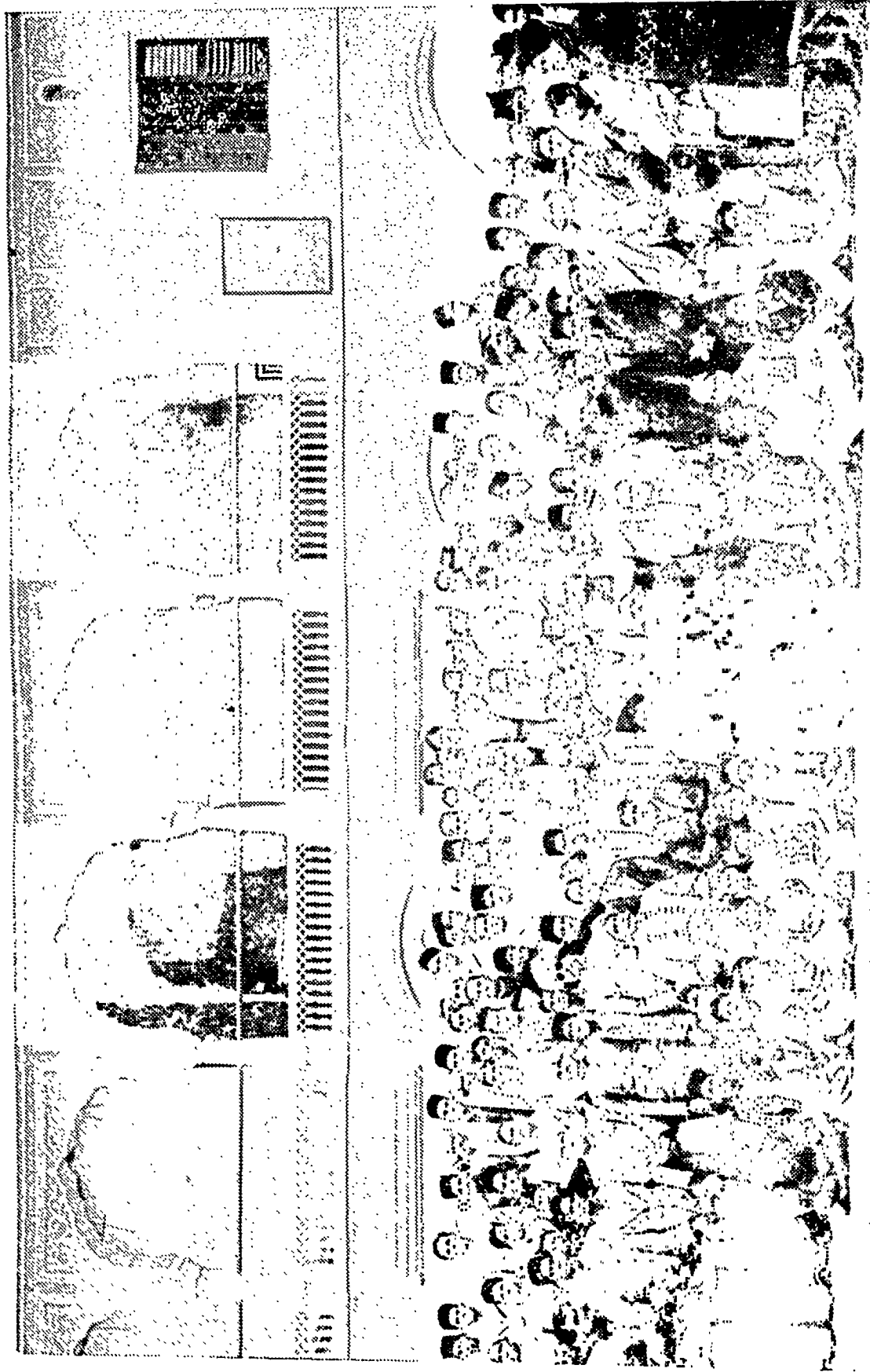
विदाई समारोह के अवसर पर (यही मास्टर साहब का एक मात्र चित्र है जो उन्होंने स्वयं खिंचवाया था)

(४)
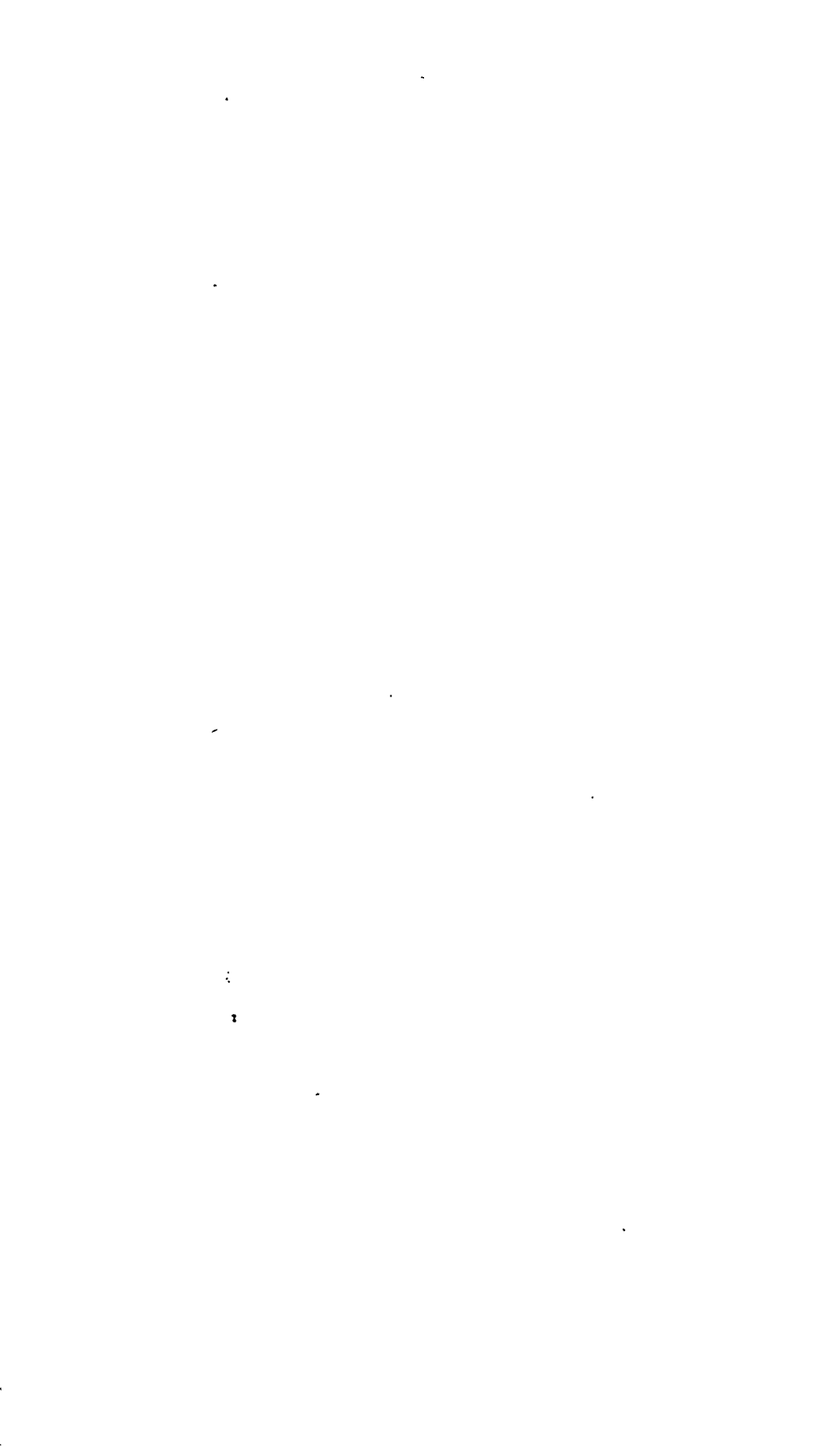
जब मास्टर साहब ने राज्य सेवा से विश्राम लिया तो हम लोगों ने उनके उपयुक्त ही बिदा का आयोजन करना चाहा। सोचा कि इस आयोजन में मास्टर साहब के वर्तमान तथा पुराने छात्रों का योग होना चाहिये। मास्टर साहब से जब यह कहा गया कि वे अपने पुराने छात्रों के नाम बताने में हमारी मदद करें तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि इस बारे में वे कुछ भी मदद नहीं कर सकेंगे। उन्होंने यह भी कहा कि उनको अपने छात्रों से मिलने में तभी खुशी होगी जब कि आजकल की पार्टियों की तरह उसमें रुपये का अपव्यय नहीं किया जाएगा। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि वे जैसा चाहेंगे वैसा ही होगा। उनके छात्रों का सहयोग पाने में कई तरह के अनुभव हुए। खैर, लेकिन कोई ढाई वर्ष बाद हम लोग मास्टर साहब को बिदापत्र और थैली भेंट कर पाए। थैली के सारे रुपये को मास्टर साहब ने तुरन्त ही साधनहीन छात्रों के उपयोग में लगाने की घोषणा करदी। जीवन भर में मास्टर साहब ने कभी अपना फोटो नहीं खिचवाया। इस अवसर पर सब लोगों की इच्छा थी कि उनका छात्रों के साथ फोटो अवश्य लिया जाना चाहिये। यह जिम्मेदारी मुझ पर पड़ी। मैंने जब बार-बार अनुरोध किया तो उन्होंने इस शर्त पर फोटो में शामिल होने की स्वीकृति दी कि उनका फोटो पुस्तकालय में नहीं लगाया जायगा। जीवन में उनका यही एक मात्र फोटो उनकी जानकारी और स्वीकृति से लिया गया था।

छात्रों को संबोधन करने का जब अवसर आया तो वे कुछ कह न सके! गद्‌गद से हो गए और हाथ जोड़कर खड़े रहे। उनका संदेश लिखित था। वह पढ़ा गया। खेद है, वह संदेश सुरक्षित नहीं रखा जा सका। उन्होंने उस संदेश में छात्रों से यही आशा की कि **वे परोपकारी बनें, जिस तरह दूसरों के सहयोग और सहायता से उनका जीवन बना है, उसी तरह उनके सहयोग और सहायता से दूसरों का जीवन बने। जीवन-निर्माण का यह क्रम चलता रहे।** त्यागी और परोपकारी इस विभूति से और किसी संदेश की आशा भी नहीं की जा सकती थी।

(५)

मेरे जीवन में मास्टर साहब की दयालुता और सहानुभूति का बहुत बड़ा योग है। इसलिए मास्टर साहब के संस्मरण मेरे जीवन के संस्मरण ही हो सकते हैं। मैं उनके बारे में लिखते समय अपने आपको अलग नहीं करना चाहता, इसीलिए मैंने बार-बार आग्रह होने पर भी कुछ लिखने की बात को बराबर टाला,

पर आखिरी आग्रह को नहीं टाल सका, इसलिए कुछ बातें मैंने लिख दी है। मास्टर साहब मेरे लिए पितृ-स्वरूप थे। मैं उनसे डरता था। उनकी बात को टालना मेरे लिए मुश्किल था। उनकी धर्म और आचरण सम्बन्धी एक दो बातों से हीमेरे विचार नहीं मिलते थे। उनके बारे में आज भी मुझे आग्रह है। उन्होंने मुझे उस आग्रह के रखने की स्वतंत्रता दे दी थी, इसलिए वह आग्रह बराबर निभता आरहा है। मास्टर साहब के प्रति श्रद्धांजलि जब जब भी अवसर मिला है, मैंने अपने आंसुओं से भेंट की है। यह लेख तो केवल आत्म-जीवनी सा है, जिसमें आत्म-दर्शन मात्र है। वे क्या थे यह बताना मेरे लिए कठिन है। उनकी साधना, तपस्या और त्याग सभी कुछ उनके सरल सौजन्य से मिले हुए थे। जिस तरह उन्होंने मेरे जीवन-निर्माण में योग दिया है उस तरह, शायद उससे भी अधिक शक्ति और साधन जुटा कर उन्होंने अन्य हजारों डगमगाते व्यक्तियों को, विशेषकर छात्रों को दृढ़ता से आगे बढ़ने का साहस दिया होगा। ऐसे मूक आचरण वाले लोग शताब्दियों में विरले होते हैं। जयपुर और जयपुर निवासी दोनों उनका सम्पर्क पाकर धन्य हुए।

उन्होंने मुझे अपनी छत्र-छाया में रख लिया

(श्री रूपचन्द जैन)

मेरे पिताजी मुझे ११ वर्ष की अवस्था में एक अनाथ अवस्था में छोड़ कर परलोक सिधारे थे। चार विधवाओं व एक छोटे भाई के परिवार का भार भी साथ ही छोड़कर गये थे। आर्थिक स्थिति ऐसी भीषण थी कि मास्टर साहब जैसे व्यक्ति का समागम न होता तो शायद ही यह कुटुम्ब जीवित रह सकता। पिताजी की मृत्यु के चौथे रोज मास्टर साहब हमें सांत्वना देने के लिए घर पधारे और करीब दो घण्टे मेरी ८० वर्ष की वृद्धा दादी से बातचीत करके उसके सन्तप्त हृदय को शान्ति दी। उन्होंने उनके हृदय में यह पूर्ण रूप से अङ्कित कर दिया कि हमारे बुरे दिन थोड़े ही समय में फिर जायेंगे। उन्होंने उसी दिन से मुझे अपनी छत्रछाया में रख लिया। मेरी छोटी अवस्था होने के कारण मुझे प्रातःकाल घर से ले जाकर स्कूल पहुंचाना और वहां अध्यापकों के सुपुर्द करके आना यह उनका दैनिक कार्यक्रम बन गया। यह क्रम करीब तीन महीने तक जारी रहा। साथ में मुझ जैसे और भी कई विद्यार्थियों को वे स्कूलों में पहुंचाते थे। स्कूल से आने के बाद भी मेरे जैसे कई

विद्यार्थियों को रात्रि के समय संभालते और इस बात का प्रयास करते कि ये अपने क्लास में प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी बनें। उनकी इस प्रकार की हार्दिक भावनाओं का ही प्रभाव था कि हम जितने भी विद्यार्थी उनके पास अध्ययन करते उनमें से शायद ही कोई ऐसा विद्यार्थी होगा जो कहीं असफल हुआ हो अथवा निम्न श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ हो। मास्टर साहब के निरन्तर प्रयास के परिणामस्वरूप ही मैं ऐसी स्थिति में होते हुए भी बी० ए० पास कर सका और आज अपना जीवन सुविधापूर्वक व्यतीत कर रहा हूँ। कैसे और किस प्रकार पुस्तकों द्वारा, रुपयों द्वारा, ट्यूशन फी माफ करा कर व अन्य प्रयासों द्वारा तथा इन सबसे अधिक निरन्तर नैतिक और आध्यात्मिक प्रेरणा के द्वारा मुझे उन्होंने इस योग्य बनाया कि उनका स्मरण मात्र ही मुझे निम्नलिखित पद्य सर्वदा याद दिलाता है :—

> जितने कष्ट-कंटकों में है जिनका जीवन सुमन खिला।
> गौरव, गंध, उन्हें उतना ही अत्र-तत्र सर्वत्र मिला॥

जीवन की सफलता के लिये नैतिक उन्नति आवश्यक

(श्री राधेश्याम अग्रवाल)

स्वर्गीय मास्टर साहब श्री मोतीलालजी संघी संसार के उन महान् अमर आत्माओं में से एक थे जिन्होंने देश, समाज, जाति एवं मानव कल्याण के लिए सर्वस्व समर्पित कर दिया था। उनका जीवन एक आदर्शमय जीवन था। उनमें मानव जाति के कल्याण के लिए ही एक विशेष स्थान था और इसीलिये उन्होंने अपने उद्देश्य को सफल बनाने के लिए उस मार्ग को ग्रहण किया, जिसके द्वारा मानव जाति के कल्याण की संभावना है। यही कारण था कि उन्होंने अपना जीवन एक शिक्षक रूप में प्रारम्भ किया।

शिक्षक होना एक तो वैसे ही संसार के उन महान् साधनों में से है जिनसे मानव का कल्याण हो सकता है और फिर मास्टर साहब जैसे उच्च विचार वालों का शिक्षक होना स्वर्ग में सुगन्ध का काम करता है और इसीलिये उनकी शिक्षण पद्धति एक विशेष प्रकार की थी। वे विद्यार्थी वर्ग को सदा पुस्तकों के ज्ञान के लिए ही प्रोत्साहित नहीं करते थे वरन् वे उनसे इस बात की आशा करते थे कि विद्यार्थी वर्ग पुस्तकों के ज्ञान के साथ ही जीवन

को उच्च बनाने के साधनों का ज्ञान प्राप्त करें और इसलिये आपने नैतिकता एवं आध्यात्मिकता पर विशेष जोर दिया।

माननीय मास्टर साहब ने इसी उत्तम कार्य में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया था। मेरा सम्पर्क उनसे मेरे बचपन से ही था और प्रायः मैं उनका उनके अपूर्व कार्य के लिए निरन्तर स्मरण करता रहता हूँ। वे केवल अपने शिष्यों के सम्पर्क में ही न आते थे बल्कि अन्य विद्यार्थियों से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। जहां कहीं भी उनके शिष्यों एवं अन्य विद्यार्थियों से उनका मिलना होता, वे उनसे यही कहा करते थे कि जीवन को सफल बनाने के लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति अत्यन्त आवश्यक है। विद्यार्थियों पर उनके मधुर शब्दों का यहां तक प्रभाव पड़ता था कि कई नैतिकता से गिरे हुए विद्यार्थी भी थोड़े ही काल में अपने आपको ऊंचा उठाने में सामर्थ्यवान होते थे।

मास्टर साहब धर्म से जैन थे किन्तु उनके हृदय में धार्मिक संकुचितता नहीं थी। उन्हें अन्य धर्मों से भी उतना ही प्रेम था। जहाँ कहीं भी उनको तथ्य मिलता, वहीं से उसे ग्रहण करने की चेष्टा करते थे। सन्मति पुस्तकालय इसका सजीव प्रमाण है जहाँ पर उन्होंने सब धर्मों की पुस्तकों का संग्रह किया। उनका प्रश्न जो भी जिस धर्म का अनुयायी हो उससे यही रहता था कि तुमने आगे के लिए भी कुछ संग्रह किया है या नहीं।

सबके सहायक

(श्री सूर्यकान्त शर्मा)

सन् १९३६ के आसपास की बात है—मैं एक मित्र के साथ कुछ पुस्तकों के लिए चिरस्मरणीय महानुभाव के पास उपस्थित हुआ। मुझको भय था कि मैं जमानत किससे दिलाऊंगा—लेकिन वहां तो निवेदन करते ही काम बन गया। मुझको बहुत आश्चर्य हुआ। कुछ समय बाद जब कि मैंने निरन्तर आवागमन से पूर्ण परिचय प्राप्त कर लिया तब एक दिन संकोच छोड़कर यह पूछ ही लिया कि इस तरह बिना जानकारी के इतनी कीमत की पुस्तकों का देना तो उचित नहीं है। तब आपने बड़े प्रेम से बताया कि मुझको विद्यार्थियों से ऐसी आशा नहीं है कि वे चोर बनने की कोशिश में होंगे। यदि कोई पुस्तक गायब भी कर लेंगे तो भविष्य में इस पुस्तकालय से वंचित हो जावेंगे तथा बाद में बड़े होने पर अवश्य उनको विचार आवेगा। मैं यह सुनकर दंग रह गया। निश्चय ही ऐसी विभूतियों से ही भारत की उन्नति हो सकती है।

गरीब विद्यार्थियों के सच्चे पिता

(श्री भंवरलाल साह)

मास्टर साहब केवल एक पुस्तकालय के संस्थापक ही न थे, बल्कि जयपुर नगर के एक बहुत बड़े मूक सेवक भी थे। उनका जीवन बड़ा उच्च एवं सादा था। उनका हर एक पर ही अपनापन दिखलाई देता था। कोई यह नहीं कह सकता था कि किसी पर कम, किसी पर ज्यादा है। मुस्कान हमेशा उनके चेहरे पर चमकती रहती थी। शायद ही कोई रास्ता या गली बची हो जहां उनकी पुस्तकें नहीं पहुंचती होगी। हमारी चौकड़ी की बकाया पुस्तकें लाने का कार्य कभी २ वे मुझे देते थे, जिसे मैं सहर्ष स्वीकार कर पुस्तकें वापिस लाता था। वे गरीब विद्यार्थियों के सच्चे पिता थे। उन्हें वे हर तरह से मदद पहुंचाते थे, यहां तक कि इम्तिहान की फीस भी वे अपने पास से भर देते थे। आज हमें उनके स्थान का कोई पूरक नजर नहीं आता। भगवान उनकी आत्मा को शान्ति दे और हमें उन जैसी सेवा-भावना।

साधु स्वभाव एवं परोपकारी

(श्री रघुनाथसिंह)

स्वर्गवासी श्री मोतीलालजी एक बड़े उच्च श्रेणी के परोपकारी व्यक्ति थे। जिन्होंने सन्मति लाईब्रेरी के जरिये अपना समय जनता की सेवा में विताया। वे वड़े सज्जन तथा पक्षपातरहित व्यक्ति थे। मेरी उनसे बहुत अरसे से वाकफियत थी। ऐसे निष्पक्ष साधु स्वभाव मनुष्य परोपकारी होते हैं। उनकी आत्मा को ईश्वर शांति प्रदान करें।

उनके पद चिन्हों पर चलने का बल उदित हो

(श्री तेजकरण डंडिया)

मैं छठी श्रेणी में पढ़ता था और बहुत कमजोर था विशेष कर गणित में, जिसके प्रति मेरी बड़ी अरुचि थी। परीक्षा का समय निकट था और पास होने की आशा नहीं थी। उन दिनों छठी श्रेणी की परीक्षा भी शिक्षा विभाग के परीक्षा बोर्ड द्वारा अपर प्राइमरी की परीक्षा के नाम से होती थी। श्री महावीर जी का मेला निकट था और परिवार के सब लोग मेले में जारहे थे। इससे पहिले मैंने यह मेला कभी नहीं देखा था। जी में आया फेल तो होना ही है क्यों न फिर मेले के सिर। परन्तु पिताजी नहीं मानते थे। अंत में मास्टर साहब से इस सम्बन्ध में राय ली गई। उन्होंने कहा **मेले जिन्दगी भर देखते रहोगे, जीवन का एक वर्ष खराब होने पर फिर नहीं मिलेगा।** मैंने साहस बटोरकर कहा 'पास होने की तो कोई आशा है नहीं, केवल आशा प्रार्थना पर हो सकती है'। उन्होंने कहा **प्रार्थना यहां भी कर सकते हो और याद रखो—परमात्मा उनकी सहायता करता है जो स्वयं की सहायता करते हैं।** मुझे अपनी कमजोरी बताओ मैं उसे दूर करा दूंगा'। मेरे लिए एक अध्यापक का प्रबंध किया गया। मैंने भरसक परिश्रम किया परन्तु गणित का भय बना ही रहा। मास्टर साहब स्वयं गणित के अध्यापक थे। परीक्षा के निकट उन्होंने अपने स्कूल के विद्यार्थियों को दो एक दिन के लिए विशेष रूप से पढ़ने के लिए बुलाया था। मुझे भी इनसे लाभ उठाने का सौभाग्य दिया गया। वर्षों तक परिश्रम से कई कापियों को रंगने पर भी जो सैद्धांतिक गुत्थियां मेरे मन में उलझी पड़ी थीं वे एक एक करके यहां सुलझने लगीं। मुझे यहां नया प्रकाश मिला, आशा का संचार हुआ और कुछ कर सकने पर विश्वास। मैंने उसी वर्ष अपर प्राइमरी की परीक्षा पास की और वह भी गणित में विशेष योग्यता के साथ। यह मेरे जीवन को बदलने वाला विन्दु था; इसके पश्चात् मैंने कभी गणित में कमजोरी का अनुभव नहीं किया।

जब कभी मास्टर साहब से मिलने का सौभाग्य प्राप्त होता था वह यह कहा करते थे—**'दुनियां के इतने काम करते हो कुछ आत्मा का भी किया करो'** एक बार इसी प्रकार की चर्चा चल रही थी कि एक सज्जन ने कहा कि वे अमुक अमुक पाठ किए विना भोजन नहीं करते। उन्हें उत्तर मिला **'केवल इससे**

आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता, तोता रटाई से कोई लाभ नहीं, आत्मा के कल्याण के लिए आवश्यकता है अध्ययन, मनन और पवित्र आचरण की।

बालक, युवा एवं प्रौढ़, सभी मास्टर साहब के पुस्तकालय से लाभ उठाते थे। पुस्तकों का चुनाव, विशेषकर बालकों और महिलाओं के लिए, मास्टर साहब स्वयं किया करते थे। पुस्तकों की सहायता आवश्यकता प्रतीत होने पर मास्टर साहब स्वयं कर देते थे। एक बार मुझे अपनी पढ़ाई सम्बन्धी एक पुस्तक की आवश्यकता पड़ी जो उस समय पुस्तकालय में नहीं थी। दो तीन दिन के बाद मास्टर साहब मेरे घर पर स्वयं आकर मेरी अनुपस्थिति में वह पुस्तक पिताजी को दे गए।

श्री महावीर दिगम्बर जैन शिक्षा परिषद् के मास्टर साहब सदस्य थे। सदस्यता शुल्क का केवल १)रु० मासिक ही दिया करते थे परन्तु १) रु० मासिक इसके साथ गुप्त दान के तौर पर और दिया करते थे। वे स्वयं इस रकम को जमा कराने मास के प्रथम सप्ताह में स्कूल में आया करते थे। वे कहते थे चंदा देना मेरा काम है; तुमको या तुम्हारे आदमी को इसके लिए कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। यह मेरे लिए लांछन है कि चंदा लिखने के बाद उसे नियमित समय पर न पहुंचा सकूं। जिस समय मुझे चंदा नहीं देना होगा उससे पूर्व मैं स्वयं इसकी सूचना भेज दूंगा।

पूज्य मास्टर साहब के निधन से हमने एक अमूल्य निधि को खो दिया। वे साधारण अध्यापक होते हुए भी एक आदर्श शिक्षक थे। वे बालकों के मार्ग-दर्शक और चरित्र-निर्माता थे। वे बालकों के भावी विकास के लिए एक दृढ़ आधार थे और इस प्रकार वे राष्ट्र के सच्चे निर्माता थे। वे अहंकार की भावना से मुक्त रह कर त्याग और दान का अपना सामाजिक कर्तव्य समझते थे। ऐसे महान आत्मा के पद चिन्हों पर चल कर कोई भी व्यक्ति अपना जीवन सफल कर सकता है। भगवान से प्रार्थना है कि हममें उनके पद चिन्हों पर चलने का आत्मबल उदित हो।

उनमें देवत्व की आभा झलकने लग गई थी

(श्री बद्रीनारायण शर्मा)

मैं साहित्यरत्न की पुस्तकों की तलाश में भटकता हुआ इस नररत्न के सम्पर्क में आगया था। परिचय होने के कुछ ही दिन पश्चात् मुझे मास्टर साहब के व्यक्तित्व में कुछ आकर्षण सा प्रतीत होने लगा। एक दिन की बात है—मैंने देखा कि मास्टर साहब कुछ पूरियां अपने हाथ में लिये हुए बैठे हैं और एक भिक्षुक उनके सामने बैठा हुआ कागज की पत्तल पर आम के आचार के साथ पूरियां खा रहा है। मास्टर साहब उस भिक्षुक को मेहमान की तरह सत्कार देकर पूरियां खिला रहे थे। यह घटना साधारण थी, किन्तु इस घटना में मास्टर जी की मानवता स्पष्ट हो रही थी। जब भिक्षुक चला गया तो मैंने मास्टर जी को सम्बोधित करके कहा,—"आपके हृदय में दया बहुत है मास्टर साहब।"

"यह कैसे ?" उन्होंने पूछा।

"इस भिक्षुक के प्रति आपका व्यवहार देखकर तो मुझे आश्चर्य हुए बिना नहीं रहा।"

"क्यों ?"

"आप कितना आदर कर रहे थे उस व्यक्ति का !"

"गरीब का आदर करना ही मनुष्य का ध्येय होना चाहिये। गरीब और अमीर दोनों में एक ही आत्मा है फिर गरीब से घृणा क्यों ?"

"किन्तु एक बात है मास्टर साहब, इस दया से केवल भिक्षुकों की संख्या बढ़ती है। समाज का हट्टाकट्टा वर्ग मुफ्त की खाने का आदी हो जाता है। मेरे विचार से दान देना बुरा नहीं है किन्तु पात्र का विचार अवश्य रखना चाहिये।"

"इस सम्बन्ध में मैं सतर्क हूं। आपने ध्यान नहीं दिया यह व्यक्ति अत्यन्त वृद्ध एवं लकवे में आया हुआ था। मैं ऐसे वैसे व्यक्तियों को भिक्षा नहीं देता। बात सच तो यह है कि भिखारियों के प्रति मेरी सद्भावनायें कम हैं।"

"ऐसी बात है ?" मैंने आश्चर्य मिश्रित भाव से पूछा।

" हां, क्योंकि इनमें सन्तोष एवं सच्चापन बहुत ही कम होता है। एक दिन की बात है कि एक भिक्षुक मुझे मार्ग में मिल गया। उसने कहा मैं दो दिन से भूखा हूं। मुझे दया आगई। मैं कुछ पराठे बनाकर यहां पुस्तकालय में ले आया और कुछ आचार का प्रबन्ध भी कर लिया। ६-७ पराठे थे। दो तो वह खा चुका था और शेष पराठे उसके समीप ही रखे थे। मुझे किसी कार्यवश नीचे जाना पड़ा और वह भिक्षुक यहां से बचे हुये पराठे लेकर चम्पत हो गया। मुझे उसकी इस प्रवृत्ति पर बहुत दुख हुआ। तब से मैंने यह नियम सा बना लिया है कि जब कभी किसी भिखारी को कुछ खिलाना अपने हाथ से खिलाना। आज भी मैं वैसा ही कर रहा था।

"मैंने समझा था कि आप भिखारियों को पालते हैं ?"

"ऐसी बात नहीं है। आपको शायद मालूम नहीं होगा कि पहले मैं कबूतरों को ज्वार डालता था, किन्तु एक दिन विचार हुआ कि इस प्रकार से ज्वार डालने से कोई शाश्वत उपकार नहीं होता। मैं कुछ दिनों पश्चात् इस निर्णय पर पहुंचा कि कुछ उपयोगी पुस्तकों का संग्रह किया जाय। बस, मैंने उस ज्वार के पैसे बचाकर कुछ पुस्तक खरीदना आरम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप सन्मति पुस्तकालय बन गया।"

"यह कार्य तो बहुत ही परिश्रम एवं साधना का है मास्टर साहब।"

"जैसा भी है आपके सामने है किन्तु मानव की मनोवृत्ति का आप इससे अन्दाजा लगाइये कि हम निःशुल्क पुस्तकें पढ़ने के लिये देते हैं फिर भी वे उन पुस्तकों को हजम कर जाना चाहते हैं। बहुत सी पुस्तकें तो वास्तव में इस प्रकार से हजम भी कर गये कुछ मनुष्य। अब तो मैं यह नियम बनाने की सोचता हूं कि जो व्यक्ति घर पुस्तकें ले जाना चाहे वह १०) डिपोजिट करा दे और जब पुस्तकें ले जाना बन्द करदे तो उन रुपयों को वापस निकलवा ले।"

"आप मासिक अथवा वार्षिक फीस ही क्यों नहीं लगा देते ?"

"वह नहीं होगा।"

क्यों ?"

"यह बात मेरे सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं पड़ती। अब तो मैं वृद्ध हो गया हूं अन्यथा पहले मैं स्वयं पुस्तकें ले जाकर घर बैठे लोगों को पढ़ने के लिये

दे आता था और एक सप्ताह के बाद वापस ले आता था। कार्य करने से होता है, भैयाजी। अच्छा, आपके लिये कौनसी पुस्तकें निकाल दूं।" मास्टर साहब ने पूछा। मैंने कुछ पुस्तकों के नाम बताये और मास्टर साहब ने उन पुस्तकों को निकाल कर मुझे देदी। मैं जब पुस्तकें लेकर वहां से लौटा तो मुझे मार्ग में अनेक बार मास्टर साहब की बातों का ध्यान आया था। आज भी मैं सोचता हूं—मास्टर साहब की बातों में कितना तथ्य था तथा वे बातें उनके चरित्र की उज्जवलता तथा कर्मठता की द्योतक थीं।

यह बात तो हुई मास्टर साहब के स्वभाव, कार्य एवं वार्तालाप की, किन्तु एक बात जो मास्टर साहब में देखने को मिली वह है मितव्ययता। मास्टर साहब वास्तविक अर्थ में मितव्ययी थे। मास्टर साहब की मृत्यु के पश्चात् पं० श्री प्रकाशजी शास्त्री ने एक दिन मुझे कुछ नई कैंचियां [शायद दो अथवा तीन थी] निकाल कर दिखाते हुये कहा—मास्टर मोतीलालजी की मितव्ययता का पता आप इस बात से लगा सकते हैं कि ये कैंचियां न जाने कितने समय से इस आलमारी में रखी हैं किन्तु मास्टर साहब ने मृत्यु पर्यन्त इनको नहीं निकाला, क्योंकि पुरानी कैंची थोड़ा बहुत काम अवश्य देती थीं। पं० श्रीप्रकाशजी शास्त्री ने मेरा ध्यान पुस्तकालय में लगे बिजली के लट्टू की तरफ आकर्षित करके कहा—हालांकि यहां बिजली का लट्टू लग सकता था किन्तु मास्टर साहब लालटेन से ही काम निकाल लेते थे। लट्टू तो अब हम लोगों ने उनकी मृत्यु के पश्चात् अब लगाया है क्योंकि हम लालटेन के प्रकाश में कार्य करने में कुछ कठिनता अनुभव करते हैं।

मास्टर साहब भावुक थे किन्तु उनकी भावुकता भी सृजनात्मक थी। वे मितव्ययी थे, किन्तु उनकी मितव्ययता भी विवेक पूर्वक थी। वे दृढ निश्चयी थे, कर्मठ थे, परोपकारी थे, गुरु थे, और थे मानव के सच्चे साथी और पथ प्रदर्शक। वे अपने जीवन काल में ही मानवता के स्तर से भी बहुत कुछ ऊंचे उठ गये थे। उनमें देवत्व की आभा झलकने लग गई थी। मैं नम्रतापूर्वक उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

वे मर कर भी अमर हैं

(श्री इन्द्रलाल शास्त्री)

अगर मर कर भी अमर रहने वाले पुरुषों की गणना की जावे तो उसमें मास्टर मोतीलालजी चोमू वालों का नाम भी बड़े गर्व से लिया जा सकता है। मास्टर साहब जब जयपुर राजकीय स्कूल में अध्यापक थे, मैं तभी से जानता हूं। वे अपने अध्यापन कार्य में सदैव अपनी कर्तव्यपरायणता का निर्वाह करते रहे। उन्होंने कभी यह नहीं समझा कि किसी भी तरह समय को पूरा करके वेतन ले लिया जाय। वे स्कूल के अतिरिक्त समय में भी छात्रों को निःशुल्क अध्ययन कराया करते थे। जो असहाय विद्यार्थी होते थे उनकी पुस्तक, भोजन, वस्त्रादि की सहायता भी अपनी प्रेरणा द्वारा कहीं से करवा दिया करते थे। वास्तव में वे उसी कोटि के अध्यापक थे जैसे कि प्राचीनकाल में गुरु के रूप में निःस्वार्थ शिक्षा-दीक्षा प्रदान करनेवाले महात्मा हुआ करते थे।

मास्टर साहब का जीवन बिल्कुल सादा, परोपकारी और निःस्वार्थ था। सरकारी स्कूल में अध्यापक कार्य छोड़ने के बाद भी वे सदैव ज्ञान प्रचार में ही लगे रहे और मरते दम तक उन्होंने यही काम किया। असहाय छात्रों को सहायता दिला कर ज्ञान प्राप्त कराना उनका प्रधान कार्य रहा, तो घर घर जाकर स्वाध्यायार्थ पुस्तकें देना भी उनकी प्रधान प्रवृत्ति थी। वे स्वाध्यायार्थ पुस्तकें देकर जब वापस लाते तो पूछते कि इस पुस्तक में क्या २ बात पढ़ी और फिर दूसरी पुस्तक दे देते। वे पुस्तकें घर देने को भी जाते थे और वापस लेने को भी स्वयं ही चले जाते थे। ऐसा निरभिमानी ज्ञान प्रचारक और लगन वाला दूसरा व्यक्ति मैंने अपनी आयु में नहीं देखा।

मास्टर साहब के कुछ संस्मरण

(श्री ज्ञानचन्द्र चौरडिया)

१९३५-३६ की बात है। मैं सुबोध स्कूल में छठी कक्षा में उत्तीर्ण हुआ। सुबोध स्कूल में आगे अध्ययन की सुविधा न होने के कारण मुझे सातवीं कक्षा में भरती होने के लिये दूसरे स्कूल में भरती होना था। छठी कक्षा में मेरा ऐच्छिक विषय विज्ञान था। मेरे पिताजी मास्टरजी से भली भांति परिचित थे। वे मुझे वाणिज्य विषय दिलाना चाहते थे, उसका मुख्य कारण मास्टर साहब का इस विषय का दरबार हाई स्कूल में अध्यापक होना था। मेरे पिताजी मुझे मास्टर साहब के पास लेगये और उनसे वाणिज्य कक्षा में भरती करने के लिये कहा। उन्होंने प्रत्युत्तर में पिताजी से कहा, "ज्ञान को संस्कृत विषय दिला दो।" मैं स्वयं विज्ञान अथवा वाणिज्य विषय लेना चाहता था। मास्टर साहब ने मुझे समझाया कि जैन ग्रन्थों के अध्ययन में संस्कृत आवश्यक है–संस्कृत का विषय ही लो। वाणिज्य विषय की तुम्हें आवश्यकता नहीं क्योंकि तुम स्वयं बनिये हो। मास्टर साहब संस्कृत के अध्ययन को कितना आवश्यक मानते थे—इसका यह परिचायक है।

अब मैं मास्टर साहब से भलीभाति परिचित हो गया था। वे मुझे बार-बार पुस्तकें पढ़ने व अध्ययन करने की प्रेरणा व प्रोत्साहन देते रहते। मैं मास्टर साहब द्वारा संचालित सन्मति पुस्तकालय में पुस्तकें लेने जाता रहता था। मास्टर साहब मुझे उपन्यास व कहानी किस्से की किताबों को पढ़ने की मनाई करते रहते और जब वे स्वयं होते तो मुझे उपन्यास नहीं लेजाने देते। वे सदा मुझे जैन धर्म सम्बन्धी तथा साहित्यिक पुस्तकें ही दिया करते और जो पुस्तक मुझे देते उसके बारे में मुझ से पूरी जानकारी प्राप्त करते कि मैंने पुस्तकों को पढ़ा या नहीं।

मास्टर साहब में कितना विद्या प्रेम था और कैसे संस्कार वे अपने शिष्यों पर डालते थे!

मास्टर साहब में संतों के सत्संग की बड़ी लगन थी। उन्हें पता होना चाहिये कि कोई संत पधारे हैं–फिर मास्टर साहब उनके व्याख्यान में न हों, उनके पास न गये हों–यह कैसे हो सकता था? संतों का व्याख्यान तो वे सुनते ही थे, हाथ मे उनके पास एक सजिल्द नोट बुक रहती थी जिसमें वे संतों द्वारा कहे हुए सुन्दर व श्रेष्ठ विचारों, कवित्तों आदि का संकलन कर लिया करते थे।

मैं भी जैन मुनियों के दर्शन व व्याख्यान में जाया करता था। यदि किसी दिन कारणवश नहीं जा पाता तो मास्टर साहब फौरन टोकते थे कि क्यों नहीं आये और मुझे अपनी कापी में से उनके उपदेश की महत्वपूर्ण बातें बताते थे।

मास्टर साहब में कितनी गुणग्राहकता, सरलता व प्रेम था—इसका यह द्योतक है।

परोपकारी जीवन

(श्री मोहनलाल काला)

स्वर्गवासी श्री मोतीलालजी मास्टर

(श्री जयदेवसिंह)

जयपुर नगर के शिक्षित समुदाय का कोई विरला ही व्यक्ति ऐसा होगा कि जो इस परोपकारी, उदार और शिक्षा के प्रसार के प्रेमी इस महान् आत्मा के हालात से परिचित न हो। सैंकड़ों नहीं हजारों नागरिक जो इस समय इस नगर के प्रमुख कार्यकर्ता हैं मास्टर साहब से शिक्षा ग्रहण कर चुके हैं और अपने चरित्र को उज्ज्वल बनाने में सफल हुए हैं।

मेरा स्वयं पहले पहल मास्टर साहब से सभा सोसाइटियों में अब से लगभग अर्द्ध शताब्दी पूर्व मिलना हुआ और दिन दिन मेरी और उनकी मैत्री बढ़ती गई। **मास्टर साहब ने अपने स्वभाव और प्रकृति के अनुसार मुझे कई बार ऐसा शुभ अवसर दिया जिससे किसी होनहार योग्य दीन विद्यार्थी की मैं कुछ आर्थिक सहायता कर सका अथवा दूसरों से करा सका।** उनमें से दर्जनों व्यक्ति अब बड़ी अच्छी दशा में हैं और मास्टर साहब की सहायता और परामर्श के गुण गा रहे हैं।

मास्टर साहब ने लोगों में अच्छी पुस्तकों के पढ़ाने लिए सन्मति पुस्तकालय स्थापित किया जिसमें हर प्रकार के उत्तम २ ग्रन्थ हैं। मास्टर साहब स्वयं लोगों के घर जा कर किताब दे आते और स्वयं ही उसके पास से पुस्तकें ले भी आते थे।

देशभक्ति की लगन भी मास्टर साहब में पर्याप्त मात्रा में थी, खादी पहनते थे और उसका प्रचार करते थे।

मैं मास्टर साहब के काम करने की शैली की बहुत सराहना करता रहता हूं। बिना किसी आडम्बर और दिखावे के वह ठोस काम, विद्या की वृद्धि और अविद्या के नाश का, कर रहे थे जो दूसरों के लिए उदाहरण का काम दे सकता है।

ऐसे महान् व्यक्ति की इस नगर के लोग जितनी भी प्रशंसा करें कम है। मुझे लगता है कि उनके स्वर्गवास द्वारा रिक्त स्थान शीघ्र ही नहीं भरा जा सकेगा। जो कुछ उन्होंने नवयुवकों के चरित्र बल को बढाने के लिए तथा धार्मिक तत्वों की जानकारी प्राप्त कराने और उसी के अनुकूल दिनचर्या बनाने में किया है, उसके कारण वे सदा याद किए जावेंगे।

अनेक जन्मों के पुण्य कर्मों का विशाल संचय उनमें था।

(श्री माधोलाल माथुर)

सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा का परम धन्यवाद है कि अपनी वाणी पवित्र करने के लिये संत श्रेष्ठ श्री मोतीलालजी जैन के सम्बन्ध में दो शब्द प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ। बाल्यावस्था ही से उनका जीवन पवित्र और निष्कलंक रहा। दरबार हाई स्कूल जयपुर में अध्यापक का कार्य उत्तमता से सम्पन्न करते हुए सन् १९३७ ई० तक वे अपने छात्रों में धार्मिक संस्कार का भी संचार करते रहे; तत्पश्चात बारह वर्ष तक पैन्शन पाई। **उनका चरित्र जैसा परोपकारमय था वैसा किसी बिरले का ही होगा। खाते-पहनते अपने से विशेष आवश्यकता वाले की खोज करके उसको पहिले खिलाना, पहनाना उनका स्वाभाविक नित्य कर्म था।** सैंकड़ों ही विद्यार्थियों को विद्यादान का प्रबन्ध करके और सैंकड़ों ही रोगियों की तन, धन, और औषधि से सेवा करके जीवन का सुधार कर दिया। उनका परोपकार किसी देश अथवा जाति तक सीमित नहीं था बल्कि उनके विशाल हृदय में विश्व-कल्याण का स्रोत सर्वदा प्रवाहित रहता था। उन्होंने जो पुस्तकालय चालीस हजार पुस्तकों का जयपुर में स्थापित किया है, वह सब प्रकार की अनूठी पुस्तकों का संग्रह है और हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सब ही धार्मिक मतों की उत्तम २ पुस्तकें यहां लब्ध हैं। **उनके दर्शन मात्र से यह प्रतीत होता था कि उनमें कई जन्मों के पुण्य कर्मों का विशाल संचय था।** मुझ दीन पर जो उनका स्नेह तथा कृपा दृष्टि थी उसको स्मरण करके हृदय से यही अभिलाषा उठती है कि आपकी आत्मा अनन्त शान्ति को प्राप्त हो और अपनी दिव्य शक्ति द्वारा अनेक जीवों को सर्वदा शान्ति प्रदान करती रहे।

जातीयता के मद से कोसों दूर

(श्री सनतकुमार विलाला)

स्वर्गीय मास्टर साहब मोतीलालजी संघी का नाम जयपुर का कौन व्यक्ति है जो नहीं जानता? उनका लगाया हुआ श्री सन्मति पुस्तकालय का पौधा आज भी जयपुर समाज में वट वृक्ष की तरह फैल कर ज्ञान का प्रसार कर रहा है। उन्होंने अपने जीवन में उक्त संस्था को उन्नति के शिखर पर पहुंचाने का पवित्र ध्येय रक्खा और वे उसमें पूर्ण रूप से सफल हुए।

स्वर्गीय मास्टर साहब सचमुच में विद्यार्थियों के प्राण थे। उनके नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिये उनके हृदय में बहुत दर्द था और इसके लिये वे भरसक प्रयत्न करते रहे। इस दिशा में कार्य करते हुए वे कभी निराश नहीं हुए। उनका विश्वास था कि मेरे कहने का यदि शतांश भी किसी विद्यार्थी नवयुवक पर असर हुआ तो यह मेरे लिए सौभाग्य की बात होगी।

उनके पढ़ाये हुए सज्जन जयपुर में ही नहीं अपितु इतर स्थानों में भी अनेक प्रतिष्ठित पदों पर कार्य कर रहे हैं। वे सब लोग मास्टर साहब में पूर्ण श्रद्धा रखते थे। जब कभी उनका किसी कार्यवश उनके यहाँ पदार्पण हो जाता था वे लोग अपने आप को कृत-कृत्य समझते थे।

वे जातीयता के मद से कोसों दूर थे। किसी भी जाति के असमर्थ छात्र को यदि अध्ययन के लिये पुस्तकों की आवश्यकता पड़ती तो वह निःसंकोच होकर मास्टर साहब के पास पहुंच जाता था और वे तुरन्त उसकी सहायता कर दिया करते थे।

आध्यात्मिक भजनों के संग्रह का भी उनको बहुत शौक था। जहां कहीं उन्हें इस प्रकार के भजन देखने को मिलते वे तुरन्त अपनी कापी में नोट कर लिया करते थे और उन भजनों का मजा कभी २ हम लोगों को भी चखा दिया करते।

स्वर्गीय मास्टर साहब सादगी के प्रतिबिम्ब थे और नियम से खादी का ही उपयोग किया करते थे। उनका चेहरा इतना सौम्य था कि क्रूर से क्रूर व्यक्ति भी उनके सन्मुख आने पर शांत हो जाता था। अनेक बार इन पंक्तियों के लेखक को भी श्रीमान् मास्टर साहब से साक्षात करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उनके गुणों का भी उस पर पर्याप्त असर हुआ जिसके लिये वह स्वर्गीय आत्मा

का अत्यन्त ऋणी है। ऐसे महान् व्यक्ति का संसार से उठ जाना सचमुच में हमारे लिये बड़े दुःख की बात है। यदि वास्तव में हमें उनकी स्वर्गीय आत्मा को शांति पहुंचाना है तो उनकी स्थापित की हुई श्री सन्मति पुस्तकालय संस्था की उन्नति में पूर्ण रूप से सहयोग देना चाहिये।

जो भी उनसे मिला प्रभावित हुए बिना नहीं रहा

(श्री नन्दलाल जैन)

उदात्त चेता, विद्या व्यसनी, सर्वदा कर्मानुष्ठान में संलग्न, धर्म प्राण, छात्र हितैषी मास्टर मोतीलालजी का आदर्श जीवन हमारे मन में देवत्व का भान कराता है। जनता को जनार्दन के रूप में मानकर उसकी सेवा में परायण रहना ही उनका नित्य नियम था। अभिमान तो उनमें नाममात्र भी न था। उनसे जो भी मिला वह उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सका। विद्यार्थियों के लिये तो सर्वस्व थे। उनका सन्मति पुस्तकालय उनके विद्याप्रेम का प्रतीक है। वृद्धावस्था में भी वे अहर्निश कार्य संलग्न ही रहते थे। उनकी सदाशयता, विज्ञापन रहित कार्यपरता निश्चय ही अनुकरणीय है और यही उनकी वास्तविक स्तुति अथवा श्रद्धांजलि है।

स्वाध्याय, शिक्षण और परोपकार की साक्षात् मूर्ति

(श्री रामकृष्ण गुप्त)

मास्टर साहब एक असाधारण व्यक्ति थे। सरल व सीधा स्वभाव था। आडम्बर विहीन महापुरुष, सदा पर उपकार में ही लगे रहते थे। स्कूल से विश्रामवृत्ति मिलने पर जब देखें तभी वे पुस्तकालय में बैठे हुए या तो पाठकों को पुस्तकें दे रहे या ले रहें हैं या प्रवचन चल रहा है या पुस्तकों पर गत्ता चढ़ाया जा रहा है। इतना वृद्ध व्यक्ति अपने शरीर के लिए कुछ न करे,

जो कुछ करे जनता के लिए, क्या यह साधारण बात हैं ? और तो और, मास्टरजी संध्या का भोजन भी १०-१५ मिनट में ही सूर्य अस्त होते होते करके पीछे शौच को जाते थे ताकि जनता की सेवा में कमी न पड़ जाय।

मास्टरजी अपनी वृत्ति में से आधी तो पुस्तकालय अथवा विद्यार्थियों के काम मे लगाते थे पर इस कार्य के लिए भीख मांगने में आपको संकोच जरा भी न था। किसी ने आज मासिक चन्दा न दिया तो कल उसके पास जाने में भी उनको हिचक न होती थी तथा देने वालों के लिए वे सदा बड़े सम्मान के शब्द काम में लाते थे।

इसके अतिरिक्त मास्टरजी स्वयं तो स्वाध्याय, शिक्षण, परोपकार की साक्षात् मूर्ति थे ही पर कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो दो चार घण्टे उनके पास बैठा हो और उनके चरित्र की छाप उस पर न पड़ी हो ?

मास्टरजी ने पुस्तकालय के द्वारा शिक्षा प्रसार के साथ-साथ अनेक योग्य विद्यार्थियों को अन्य ऊंचे दर्जे की शिक्षा बाहर भेजकर दिलवाई तथा सही मार्ग दर्शन कराया। उस महापुरुष का उपदेश था कि **राम-राम कहने से राम नहीं मिलने वाला है जब तक कि राम के गुणों को हम अपने में नहीं उतारलें।** मास्टरजी ने ऐसा ही कर दिखाया। अपने धर्म (दिगम्बर जैन) के पूर्ण रूप से अनुयायी होने पर भी उन्हें अन्य धर्मों के महापुरुषों के जीवन से मिलने वाली शिक्षा को प्राप्त करने में सदा प्रसन्नता रहती थी।

मुझे तो याद नहीं कि कभी उन्होंने भाषण दिया हो, केवल पारस्परिक वार्तालाप के अतिरिक्त, पर उनकी सौम्य मूर्ति ही मौन व्याख्यान बन उपस्थित महानुभावों के हृदय में प्रवेश कर जाती थी।

जो पवित्र मार्ग दर्शन उस महान् पुरुष ने जनता को दिया है उसके लिए हम कुछ भी कहने सुनने में असमर्थ है, केवल ईश्वर से यही प्रार्थना करते है कि वे उस महान् आत्मा को अमर शान्ति प्रदान करें।

"पर उपदेश कुशल बहुतेरे जे आचरहिं ते नर न घनेरे"।

(श्री मिलापचन्द जैन)

स्वर्गीय मास्टर साहब मोतीलालजी संघी उन श्रद्धेय महापुरुषों में से थे जो जीवन का महत्व केवल मंच पर खड़े होकर बड़े-बड़े व्याख्यान देने में नहीं अपितु जीवन को विशुद्ध तथा निर्मल बनाकर जनता जनार्दन के सन्मुख महान् आदर्श उपस्थित करने में समझते थे। वस्तुतः कहना जितना सरल है, करना उससे हजारों गुणा कठिन होता है। कहने वाले स्वप्न लोक में विचरते हैं जबकि करने वाले को कार्य क्षेत्र में जुटना पड़ता है। कहने वाले केवल अमृत की सी घूंट पीना चाहते हैं जबकि करने वाले को जहर का प्याला पीने के लिए उद्यत होना पड़ता है। **"दिया तले अंधेरा" वाली कहावत केवल व्याख्यान देने वालों के जीवन में घटित होती है जबकि करने वाले समुद्री टीलों पर बने हुए उन प्रकाश स्तम्भों के सदृश होते हैं जो अपने अलौकिक प्रकाश से असंख्य पथिकों का दिशा-निर्देश कर देते हैं। मास्टर साहब भी ऐसे ही एक अलौकिक प्रकाश स्तम्भ थे।**

मास्टर साहब बहुत शांत-स्वभावी थे। आप धर्मनिष्ठ और कर्त्तव्यशील प्राणी थे। वे समाज के निःस्वार्थ मूक सेवक थे। वे सरलता और सादगी के साकार उदाहरण थे। वे शुद्ध खादी का उपयोग करते थे और वह भी बहुत मोटी होती थी।

उनकी ज्ञान पिपासा बड़ी बलवती थी। श्रेष्ठ पुस्तकों का अध्ययन एवं मनन करना वे अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। वे आम जनता में विशेषतः विद्यार्थियों में विद्यानुराग पैदा करते थे। ज्ञानार्जन और ज्ञान-प्रचार उनके जीवन के मूल मन्त्र थे। उनकी जैन धर्म में पूर्ण निष्ठा थी फिर भी वे "बालादपि सुभाषितं ग्राह्यं" के पूर्णतः समर्थक थे। वे प्रत्येक धर्म के विशेषज्ञों की टोह में रहते थे और समय निकालकर उनके उपदेशामृत का लाभ उठाते थे। उनकी कुछ चुनी हुई पुस्तकें होती थीं जिनको पढ़ने के लिए वे योग्य व्यक्तियों को प्रोत्साहित किया करते थे।

उनका जन्म परोपकार के लिए ही हुआ था।

(श्री गेंदीलाल गंगवाल)

स्वर्गीय मास्टर साहब मोतीलालजी संघी जयपुर की जनता के सच्चे सेवक थे और निरन्तर परोपकार के कार्य में तन, मन, धन से संलग्न रहते थे। उनके लिए 'परोपकाराय सतां विभूतयः' तथा 'उदार चरितानांतु वसुधै कुटुम्बकम्ः' उक्तियां चरितार्थ होती हैं। उनका जन्म परोपकार के लिए ही हुआ था ऐसा कहना अत्युक्ति न होगी। वे उन महान् नररत्नों में से थे जो विषय वासनाओं में लिप्त न होकर अपने जन्म को सफल बनाने की चेष्टा करते है। जैन कुल में उत्पन्न होकर वे जयपुर के सारे जैन समाज की एक *विभूति थे जिनकी सदैव ऐसी भावना रहती थी कि अखिल विश्व का कल्याण* हो, भूले भटके लोग यथार्थ मार्ग का अनुसरण करें, संसार में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो, ज्ञान का प्रसार हो तथा दुखित जीवों को सुख की प्राप्ति हो।

स्वार्थपरायणता, ख्याति-लाभ, पूजा तथा ढोंग से वे सदा कोसों दूर भागते थे। **मेरे विचार से वे आदर्श गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते हुए आज-कल के त्यागी-तपस्वियों से भी बढ़कर थे।** आत्मोन्नति तथा धार्मिक जीवन व्यतीत करने का वे अटूट प्रयास करते थे। यद्यपि वे परम श्रद्धालु जैन धर्मावलम्बी थे किन्तु सर्व धर्मों के प्रति आदर रखते हुए जहां कहीं कोई उत्तम बात मिलती थी उसे ग्रहण करने में संकोच नहीं करते थे। कबीरजी, सूरदासजी, तुलसीदासजी, सुन्दरदासजी, दौलतरामजी, बुधजनजी, भूधरदासजी, भैया भगवतीदासजी, द्यानतरामजी आदि संत कवियों के उत्तमोत्तम पद्यों को अपनी एक कापी में नोट कर लेते थे और उनको कन्ठस्थ करने की कोशिश करते थे तथा दूसरों को भी उनका आध्यात्मिक रस चखाते रहते थे। एक समय की बात है कि वे किसी काम के लिए एक दिन मेरे मकान पर पधारे थे। उस समय मैं किसी अत्यन्त आवश्यकीय कार्य के लिए अपने कार्यालय जाने की शीघ्रता कर रहा था अतः मास्टर साहब से उनके काम की बात-चीत करने के पश्चात् मैंने आफिस जाने की आज्ञा चाही तो उन्होंने मुझे दो चार मिनिट और ठहरने के लिए कहा और एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक रस का एक भजन सुनाया जिससे मेरी आत्मा को बहुत शान्ति मिली। ऐसा करके उठ खड़े हुए और मुझे आफिस जाने को कहा। वे भारतवर्षीय जैन शिक्षा

प्रचारक समिति के एक मुख्य सदस्य थे और राजस्थान के कर्मवीर प्रख्यात नेता पं० अर्जुनलालजी सेठी के खास मित्रों में से एक थे। जब तक उनके विचार सेठी जी से मिलते रहे उन्होंने उनसे हार्दिक सहयोग किया। भारतवर्षीय जैन शिक्षा प्रचारक समिति के अधीनस्थ पाठशालाओं में वे प्रायः गणित के परीक्षक नियुक्त होते थे।

मास्टर साहब से मेरा परिचय सन् १६०७ से है जब मैं श्रीवर्द्धमान विद्यालय का विद्यार्थी था। मुझे उनकी सबसे बड़ी विशेषता लगती थी—मोटा खाना, मोटा पहनना और अल्प द्रव्य से दूसरों को अधिक से अधिक लाभ पहुंचाना। वे अत्यन्त स्वच्छ हृदय के व्यक्ति थे और किसी से उपकार का बदला नहीं चाहते थे।

वे कठोर तपस्वी, त्यागी और मूक सेवक थे

(श्री सुभद्र कुमार पाटनी)

मेरे दादा चन्द्रलालजी बड़े मन्दिर में शास्त्र प्रवचन किया करते थे। प्रति दिवस वे मुझको साथ ले जाते थे। प्रवचन की समाप्ति के बाद वे शंका समाधान के लिए प्रश्न आमन्त्रित करते। उस समय शास्त्र सभा में एक सज्जन खम्बे के सहारे प्रतिदिन गर्दन झुकाये मौन रूप से शास्त्र सुना करते और प्रश्नोत्तर के समय अनेक प्रश्नों का समाधान चाहते। दादाजी ने मुझको बतलाया था कि यह 'मास्टर साहब' हैं। बचपन की वह पहली स्मृति स्थान कर गई और तभी से उनके प्रति आदर व श्रद्धा उत्पन्न हो गई।

मुझे बचपन की याद है वही 'मास्टर साहब' घर पर कभी कभी आते और चौक में धीरे से 'कपूरजी' कह कर पुकारते, और मेरे पिताजी बड़ी श्रद्धापूर्वक नीचे उतर कर उनका स्वागत करते। वे मेरे पिताजी व माताजी के लिए बहुत सी पुस्तकें लाते और उनके बारे में कुछ समझाकर छोड़ जाते व पहले वाली पुस्तकें वापिस ले जाते। शनैः शनैः मैं उनके सम्पर्क में आने लगा। जब में स्कूल जाने लगा तब वे सदा मेरी पढ़ाई-लिखाई के बारे में पूछा करते। लाईब्रेरी में ले जाते, वहां से पुस्तकें छांट कर मुझको पढ़ने के लिए देते। अधिकतर 'ब्रह्मचर्य' 'धार्मिक विषयों' तथा 'महान् व्यक्तियों की जीवनी' ही देते और कभी मैं उपन्यास मांग बैठता तो नाराज हो जाते। पढ़ने के

बाद जब पुस्तकें वापस करने जाता तो उन पर प्रश्न पूछते जिससे वे जान लेते कि पुस्तकें मैंने पढ़ीं या नहीं। उनकी इस आदत से डर लगता था और मैं जब तक पुस्तक अच्छी तरह नहीं पढ़ लेता, लौटाने की हिम्मत नहीं करता था।

पिछले वर्षों पढ़ाई समाप्त कर लेने के बाद जब मैं काम-काज में लग गया था तब मिलने पर सदा पूछा करते कि धर्म के प्रति रुचि है या नहीं, नित्य नियम करता है या नहीं, मन्दिर जाता है या नहीं। उनको यह सुनकर बड़ा दुःख होता कि मैं कुछ नहीं करता और सदा उपदेश दिया करते कि 'आत्मा की शांति' के लिए यह करना बहुत आवश्यक है। रास्ते में खड़े घन्टों समझाया करते कि 'आत्मा का स्वरूप' क्या है, 'तुम क्या हो' 'संयम', 'नित्य नियम' और आराधना का कितना प्रभाव है। अब यह सोच कर दुख होता है कि यह सब समझाने वाले हितैषी नहीं रहे।

एक बार मैंने मास्टर साहब से निवेदन किया कि लाइब्रेरी की बहुत सी पुस्तकें लोगों के पास रह जाती हैं और वे स्वयं उन्हें लौटाने की चिन्ता नहीं करते, आप स्वयं इस अवस्था में पुस्तकें पहुंचाने व लाने का परिश्रम करते हैं इसके बजाय एक चपरासी रख कर लोगों से पुस्तकें वापिस मंगवाने की व्यवस्था क्यों नहीं कर लेते। इसका उन्होंने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया, जिसे सुनकर मैं चकित रह गया। उन्होंने कहा—'चपरासी के मासिक वेतन से अधिक मूल्य की पुस्तकें लोगों के पास नहीं रह जाती। मेरी पुस्तकें लोग बेचेंगे नहीं क्योंकि उन्हें उससे विशेष लाभ नहीं होगा। पुस्तकें उनके पास रह भी जायेंगी तो कभी कोई तो उन्हें उठाकर पढ़ ही लेगा और उनसे उसका कल्याण होगा"। इस घटना से उनकी उच्च आदर्श और सद्भावना का परिचय मिलता है।

अपने जीवन काल में मास्टर साहब ने सहस्रों निर्धन छात्रों को विद्या-दान दिया और न केवल पुस्तकों से ही बल्कि धन से भी सहायता दी। अनेकों नवयुवक व प्रौढ़ आज उनके बल पर जीवित हैं। जरूरतमन्द व योग्य व्यक्तियों को काम से लगाने की उन्हें सदा चिन्ता रहती और स्वयं कहीं न कहीं उनके लिए व्यवस्था करते। यह सेवा भावना कुछ ही लोगों में होगी।

मास्टर साहब किसी से अपने निस्वार्थ कार्य के लिए भी सहायता नही मांगते थे पर लोग स्वयं उन्हें अर्पित करते थे। वे कठोर तपस्वी, त्यागी और मूक सेवक थे—सरस्वती के पुजारी थे। उनके जीवन से अनेकों बातें सीखने की हैं। भगवान हम लोगों को सद्बुद्धि व प्रेरणा दे कि हम उनके सच्चे शिष्य व अनुयायी बनकर उनकी ज्योति को कभी न बुझने दें। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

मनुष्य कार्यों से ही ऊंचा या नीचा होता है

(श्री कपूरचन्द बस्सी वाले)

मुझे भली भांति याद है कि मास्टर साहब अनेक असहाय विद्यार्थियों के लिए पुस्तकें एवं कॉलेज की फीस आदि के लिए लोगों के पास अक्सर सबेरे जाया करते थे। मास्टर साहब ने केवल मुझे ही नहीं बल्कि मेरे करने से ही अनेक युवकों को पुस्तकें तथा फीस आदि दिलाकर उनकी पढ़ाई चालू रखने में मदद दी।

मुझे उनके ये शब्द भली भांति याद हैं—**कोई भी मनुष्य किसी परिवार या जाति विशेष में पैदा होने के कारण ही ऊंचा नहीं कहा जा सकता। वह केवल अपने कार्यों से ही ऊंचा या नीचा होता है।** जैन धर्म के विषय में तो वे बराबर ही कुछ सिखाया करते थे, क्योंकि इस विषय में उनकी जानकारी विशेष थी।

जब मैं करीब १९-२० वर्ष का था, तब मेरी रुचि उपन्यासों के पढ़ने की ओर बहुत अधिक थी, पर मुझे आज भी याद है कि मैं बड़ी मुश्किल से 'मोतीमहल' नाम का एक उपन्यास ले पाया था, क्योंकि वे किसी भी विद्यार्थी को पढ़ाने के लिए उपन्यास बहुत ही कम देना चाहते थे।

विद्यार्थियों लिए देवता-स्वरूप

(श्री विद्याधर काला)

सन् १९१७ में मुझे श्रीमान् मास्टर साहब के निकट सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। मैं उस समय गवर्नमेंट हाई स्कूल, अजमेर में दसवीं कक्षा में पढ़ रहा था। दुर्भाग्यवश अजमेर में प्लेग का जोर था, स्कूलों की छुट्टियां भी अनिश्चित काल तक हो गई थी, पठन कार्य में बड़ी बाधायें उपस्थित थीं। मैं संयोगवश मास्टर साहब से मिला और उपरोक्त कठिनाइयां मैंने उनके सामने रखी। उन्होंने दूसरे ही दिन से मुझे अपने मकान पर प्रतिदिन प्रातःकाल आने का आदेश दिया। मैं करीब तीन मास तक लगातार गया और मैट्रिक का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम अच्छी तरह से तैयार कर लिया।

मास्टर साहब इन दिनों में करीब पचास-साठ विद्यार्थियों को पढ़ाते थे जिनमें तीसरी कक्षा से लेकर मैट्रिक तक के विद्यार्थी थे। मास्टर साहब की निगाह सब ही विद्यार्थियों पर रहती थी। किसी का एक मिनट भी बेकार नहीं जाता था। पाठन प्रणाली इतनी उत्तम थी कि सुगमता पूर्वक प्रत्येक बात समझ में आ जाती थी।

इसके बाद में जब मैं महाराजा कालेज में भरती हुआ तब वे सदा पुस्तकों द्वारा मेरी सहायता करते रहे। बाद में भाग्यवश मैंने भी दरबार हाई स्कूल में कुछ वर्षो के लिये उनके साथ अध्यापन का कार्य किया, तो वे विद्यार्थियों से किस प्रकार प्रेम करते थे इसका ज्ञान पूर्ण रूप से मुझे मिला एक बगल में किताबों से भरा हुआ बस्ता जिसमें बहुत सीं पैंसिलें भी थी सदा उनके पास रहता था। यह सब विद्यार्थियों के उपयोग की ही चीजें थीं।

उनका रहन सहन अत्यन्त सादा था। एक समय की बात है कि श्री ओविन्स, तत्कालीन शिक्षा विभागाध्यक्ष निरीक्षण के लिए दरबार हाई स्कूल में आये। सब ही अध्यापकगण नवीन अपटूडेट पोशाकों में, अपने कार्य में पूर्ण व्यस्तता दिखला रहे थे। मास्टर साहब वही रेजी की शेरवानी व मुद्दत की बंधी हुई पगड़ी लगाये हुए थे। कुछ अध्यापकों ने उस दिन के लिए ड्रेस बदलने को कहा था, लेकिन मास्टर साहब अपने प्रतिदिन के तौर-तरीके पर ही कायम रहे।

मेरी आकांक्षा है कि मास्टर साहब का विशाल पुस्तकालय जिसके लिये वे जीवन भर कार्य करते रहे सदा प्रगति करता रहे और विद्यार्थियों तथा जयपुर के नागरिकों की सेवा करता रहे। यही उनके लिये चिरस्मारक होगा।

सच्ची आध्यात्मिकता जन सेवा से ही संभव

(श्री कमलचन्द सोगानी)

वे वास्तविक अर्थ में आध्यात्मिक थे। उनका जीवन भारतीय संस्कृति का सुन्दर प्रतीक था। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा दृढ़ और विकसित था। उनके सम्पर्क में जो भी आता था वही अपने जीवन में उच्चता की अनुभूति करने लगता था। उनका विश्वास था कि यदि हम अपने अल्पकालीन जीवन को ऊंचे लक्ष्य और आदर्श की प्राप्ति के लिए समर्पित कर

दें तो भौतिक सम्पदा स्वयं ही हमारे वशीभूत हो जायगी। मास्टर साहब का जीवन सिद्ध करता है कि आध्यात्मिकता की प्राप्ति के लिए मानव समाज से दूर जाकर एकान्तवास करना आवश्यक नहीं है, बल्कि जात-पांत का भेद भुलाकर पीड़ित और दलित मानवों की निरन्तर सेवा ही इसका वास्तविक मार्ग है। मास्टर साहब की महान् आत्मा में पतित से पतित लोगों को भी उठाने की सामर्थ्य और तीव्र अभिलाषा थी। उनकी निगाह समाज के बालकों और तरुणों पर विशेष रहती थी और वे उन्हें वर्तमान युग की भौतिकवादी भावनाओं और आकर्षणों के द्वारा पथभ्रष्ट न होने देने में विशेष प्रयत्नशील रहते थे।

वे प्रथम कोटि के शिक्षक थे। उन्होंने शिक्षण की मूल भावना और आदर्श शिक्षक की विशेषता को भलीभांति प्राप्त कर लिया था।

मुझे उन्हें अपना गुरु कहने में गौरव का अनुभव होता है, लेकिन जब मैं अपने आपको उनका शिष्य कहना चाहता हूं तो मुझे अपनी अयोग्यता पर बड़ा संकोच होता है। मैं केवल तीन वर्ष उनके पवित्र संपर्क में रहा। यदि मैं कुछ भी उन्नति कर सका, तो वह सब उनकी कृपा के कारण ही होगी, और यदि न कर सकूं तो इसके लिये मेरा दुर्भाग्य ही उत्तरदायी होगा। मेरी यही आकांक्षा है कि मैं उनके जैसा बनूं और फिर मुक्ति के उनके आदर्श को प्राप्त करूं।

मैं उन्हें अपना गुरु मानने लगा

(श्री लादूराम जैन जागीरदार)

जब मेरी उम्र तेरह वर्ष की थी, तब एक बार मैंने त्याग की शक्ति बढ़ाने के विचार से बिना नमक की जौ की रोटी, बिना घी तथा शाक के खाना शुरू कर दिया। इस पर मेरी दादीजी बड़ी नाराज हुईं, लेकिन मैं न माना, तब उन्होंने मास्टर साहब से मेरी शिकायत की। मास्टर साहब ने मुझे समझाया—पहले तुम्हें समय की पाबंदी का व्रत लेना चाहिये। इस व्रत में तुम पूरे उतर जाओ, तब अन्य व्रत लेना। अभी तुम्हें गृहस्थ रहकर अपनी दादीजी की सेवा का कर्त्तव्य पालन करना है। मुझ पर मास्टर साहब के समझाने का बड़ा असर हुआ। तभी से मैं उन्हें गुरु मानने लगा।

जब मास्टर साहव ने वड़े मंदिरजी के दरवाजे के ऊपर वाले हिस्से की एक छोटी अलमारी में सात पुस्तकों से पुस्तकालय के काम की शुरुआत की तो उसी दिन मुझे प्रद्युम्न चरित्र नाम की पुस्तक दी और नित्य स्वाध्याय करने का नियम दिलाया। मैंने वह नियम अंगीकार किया और आज तक उसका निरन्तर पालन करता चला आ रहा हूं।

जब से मास्टर साहव ने पुस्तकालय का काम इस मन्दिर में शुरू किया, तभी से मन्दिर के कुछ पंच मास्टर साहव का विरोध करते रहे, लेकिन मुझे इस पुस्तकालय के प्रति सदा से बड़ा प्रेम रहा है, क्योंकि मास्टर साहव ने इस शुभ कार्य की ऐसी घड़ी में नीव डाली थी कि मेरे देखते देखते इसमें पैंतीस हजार के करीव पुस्तकें हो गईं और प्रति वर्ष हजारों लोगों को इससे लाभ पहुंचने लगा। मैं चाहता हूं कि पुस्तकालय यही रहे और फले-फूले। मैं इसके विरोधियों का सदा मुकाबला करता हूं और करता रहूंगा।

मैं उन्हें बाबा साहब कहता था

(श्री निर्मलकुमार हांसूका)

मैं उन्हें बाबा साहव कहता था क्योंकि जव से मैंने होश संभाला मैंने अपनी माताजी को उन्हें बाबासाहव कहते ही सुना। वे मेरे बड़े नाना साहब होते थे। पिताजी ने मुझे जयपुर उन्हीं की देख-रेख में पढ़ने के लिए छोड़ा था। मैं अपने आपको उन भाग्यवानों में से समझता हूं, जिन्होंने उनका लाड़ और दुलार, डाट और डपट; उपदेश और नसीहत पाई। इसके अलावा मुझे उनके व्यक्तित्व को, उनकी कार्य प्रणाली को, उनकी जीवन-साधना को बहुत ही निकट से देखने का अवसर प्राप्त हुआ, क्योंकि लगभग सात साल तक सोने के समय के अलावा, सब ही समय तो उनके साथ रहा। गर्मी की छुट्टियों में भी वे मुझे पिताजी के पास अलवर नहीं जाने देते। मुझे पुस्तकालय में वे अपने साथ ले जाते और वहां बैठा २ गणित के प्रश्न किया करता। लेकिन घर से मैं इसी शर्त पर जाता कि बाबासाहब मुझे नीद आने पर हवा करेंगे और उनके उस अमूल्य समय में से हर रोज दस पन्द्रह मिनट अपनी कमर सहलवाने के लिए निकलवा ही लेता था। तव मैं आठ-नौ साल का था और छठी क्लास में पढ़ता था। जव तक मुझे नींद नहीं आती मास्टर

साहब मुझे धार्मिक उपदेश व कुछ सदाचार के नियम अपनी हमेशा की आदत के अनुसार सुनाया करते। जब मैं पन्द्रह साल का हुआ और इन्टरमिडियट करने को था, तब मैं बाबासाहब के लेट जाने पर उन्हें यदा कदा उन्हीं की उपदेशों की नोट बुकों में से उन्हें कुछ पढ़कर सुनाता—उस समय तक मास्टर साहब काफी ढल चुके थे।

प्रतिदिन बड़े सवेरे, उजले-अंधियारे, मास्टर साहब शैय्या त्याग किया करते थे और फिर सामायिक का आसन लगा कर काफी समय तक आत्म-चिन्तन। किसी भी दिन, किसी भी कारण को लेकर इससे अन्यथा घटित नहीं होता, इसकी अवहेलना नहीं होती थी। तत्पश्चात् वे स्वयं ही अपने बिस्तरों को उठाते। खुद का काम खुद करो–इस सिद्धान्त का वे कभी उल्लंघन नहीं करते थे।

मास्टर साहब ठीक समय पर भोजन और स्नान किया करते थे। आंखों को रोज पानी से धोना, दांतों को रोज साफ करना और शौच से पहले पानी पीना-यह उनकी खास आदतें थीं। यही कारण था कि ७४–७५ वर्ष की अवस्था होने पर भी न तो मास्टर साहब का एक ही दांत टूटा, न चश्मे की ही जरूरत पड़ी। यह छोटी २ बातें उनकी बरसों की नियमितता का फल थीं। इसी नियमितता का कारण था कि उन्हें अपनी तीस वर्ष की नौकरी में एक दिन का रियायती अवकाश लेने की भी जरूरत नहीं पड़ी।

प्रातः नित्य कर्म के पश्चात् मास्टर साहब जरूर कहीं न कहीं किसी विद्वान् या साधु का उपदेश सुनने पहुंच जाया करते थे। चाहे विद्वान् कोई जैन साधु हो या कोई वैष्णव या कोई मुसलमान, जहां भी उन्हें नई चीज मिलती, जहां भी अध्यात्म सम्बन्धी चर्चा होती, वे पहुंचे रहते थे। इन धार्मिक संकीर्णताओं से परे अपनी नोट-बुक और पैंसिल लेकर मास्टर साहब अपने मतलब की चीज नोट करते हुए लोगों को बहुधा दिखलाई पड़ते थे। मुझे याद है कि एक दफा रात्रि को हम कहीं गली में जा रहे थे, और एक भिख-मंगे फकीर ने किसी को एक शेर सुनाया। वे वहीं खड़े हो गये और उस फकीर से उसे दोहराने की प्रार्थना की और फिर तत्काल ही नोट कर लिया—आखिरी दिनों में जब वे बहुत ज्यादा ढल चुके थे और ज्यादा घूमना फिरना उनके लिए सम्भव नहीं था, तो वे अपनी पुरानी नोट बुकों को निकाल कर उन अमर वाक्यों को दोहराया करते थे। ऐसी जबर्दस्त थी उनकी ज्ञानपिपासा। रास्ते चलते २ भी वे भजनों की एक कापी में से भजन याद किया करते थे। समय का ऐसा उपयोग बहुत कम लोगों में देखने को मिलता है।

उनका भोजन बहुत ही नियमित और अल्प होता था। शायद पिछले पंद्रह सालों से उन्होंने दिन में दो बार भोजन करने के अलावा तीसरी बार तिनका भी मुंह में नहीं लिया। किसी भी प्रकार के नशे का व्यसन उन्हें एक दम नहीं था। धूम-पान, पान-सुपारी ऐसी किसी भी चीज का सेवन उन्होंने पिछले पचास साल से नहीं किया था। कम-मसाले और हल्के हाथ का भोजन ही उन्हें प्रिय था। उनका आचार-विचार और रुचि अत्यन्त परिष्कृत थी। उन्हें सिर्फ दूध और दही का शौक था। दूसरों को भी वे इन्हीं चीजों के लिए जोर देते थे। उनके हाथों जबरदस्ती काफी दूध पीने के लिए सौभाग्य से मैं भी कभी वंचित नहीं रहा। उन्हें जीभ के चटोरे लोग पसन्द न थे। वे कहा करते थे—खाओ जीने के लिए न कि जीओ खाने के लिए। एक उनकी उल्लेखनीय आदत यह थी कि हमेशा तीन रोटियों में से एक रोटी विना किसी सब्जी या भाजी के खाया करते थे। कहते थे मनुष्य को जीभ का दास नहीं होना चाहिये। हर तरह की आदत डालनी चाहिये। हो सकता है कभी सब्जी या तरकारी न मिले।

सादा-रेजी का सफेद कुरता-धोती और टोपी ही उनकी प्रिय पोशाक थी। उसके ऊपर वे अपने गांव चौमू की बनी हुई देशी-हल्की जूती पहना करते थे। फिर भी वे सामाजिक नियमों का पूरा ध्यान रखते थे। कवियों या दार्शनिकों की तरह चला कर बाल या डाढ़ी बढ़ाना अथवा निराले ही कपडे पहनना, उन्हें पसन्द न था। जब किसी आदमी से मिलने जाना होता या किसी विशेष अवसर पर वे अंगरखी और पगड़ी जरूर लगाते थे और तब वे अतीव सुन्दर लगते थे।

बाबा साहब जयपुर में एक आदर्श शिक्षक और एक आदर्श पुस्तकालय संचालक के रूप में प्रसिद्ध थे। उनकी ज्ञान-पिपासा ने उनमें पुस्तकें पढ़ने की आदत डाली और इसी प्यास को सर्वसाधारण में जागृत कर देने की लालसा की निशानी है यह सन्मति पुस्तकालय। यह सब उन्हीं के अथक परिश्रम का फल था, उन्हीं की प्रेरणा थी कि पुस्तकालय में पुस्तकों की संख्या हजारों तक पहुंच सकी।

वैसे एक जगह बैठ कर पुस्तक देना कोई बड़ा काम नहीं, किन्तु किसको कैसी देना, यही सब कुछ है। इस कला में वे प्रवीण थे। पहली बार कोई मनुष्य आता और कहता मास्टर साहब मुझे किताब दीजिये। वे पूछते 'कैसी भाई'? उत्तर मिलता 'साहब, दो जासूसी उपन्यास'। 'अच्छा ले जाओ'। अगली बार वे उसे अपने आप एक जासूसी और एक सामाजिक उपन्यास दे

देते। उसके बाद दोनों पुस्तकें जो दी जातीं वे सामाजिक-उपन्यास ही होतीं। चौथी बार एक सामाजिक उपन्यास और एक जेम्स ऐलन अथवा लीली ऐलन की लिखी हुई या कोई भी अच्छे विचारों की पुस्तक दे दी जाती। फिर आने पर पूछ लेते थे 'भाई क्या पढ़ा' ?

मास्टर साहब का आध्यात्मिक किताबों की ओर रुचि पैदा कराने का बड़ा रोचक ढंग था। वे किसी मनुष्य से पूछते "क्यों भाई अगर कोई आपसे पूछे आपका क्या नाम है ? आपके पिताजी का क्या नाम है, आप क्या धंधा करते हैं? और अगर आप जवाब दें, मालूम नहीं तो कोई आपको क्या बतलायेगा ?" मनुष्य तत्परता से जवाब देता "मूर्ख बल्कि महामूर्ख ही बतलायेगा"। फिर मास्टर साहब पूछते, अच्छा बतलाइये "आप कौन हैं" ? वह मनुष्य निश्चय ही अपना नाम बतलाता। वे कहते-ना, यह तो आपके शरीर का नाम है-जो मृत्यु के बाद यहीं पड़ा रह जाता है। मुझे आपका नाम बतलाइये-उस चीज का जिसके बिना यह शरीर सिर्फ एक मांस का लोथ रहता है। उस चीज का नाम बताइये जिसे आप 'मैं' करके बोलते हैं। फिर पूछते— आप कहां से आये हैं? "आप कहां जायेंगे ? आप का क्या कर्त्तव्य है" ? उस मनुष्य के निरुत्तर हो जाने पर वे कहते, भला बतलाइये आपको इतनी आवश्यक बातों का मालूम नहीं। फिर उसे आत्म-ज्ञान संबंधी पुस्तक दे देते। उनके प्रशान्त स्वभाव का ऐसा कुछ लोगों पर असर पड़ता था कि उनकी दी हुई किताब का पढ़ना जरूरी हो जाता। कुछ लोग ऐसे भी आते थे जो किसी किताब को केवल इसीलिए नहीं पढ़ते थे कि वह एक जैन अथवा वैष्णव या किसी अन्य धर्मी की लिखी हुई है और अगर मास्टर साहब उस किताब को पढ़वाना ज़रूरी समझते तो वे लेखक के नाम पर एक कागज की चिट चिपका देते। वास्तव में कितनी लगन थी उनमें अपने आसन के प्रति। केवल एक लालसा थी उनमें — सर्वसाधारण को ज्ञानोपार्जन कराने की। ऐसा आदर्श पुस्तकालय-संचालक वास्तव में दूसरा मिलना ही बहुत कठिन है।

कभी कोई आदमी कहता कि अमुक आदमी के पास आपकी इतनी पुस्तकें पड़ी हैं और वह आपको लौटाने का नहीं तो बड़े सहज भाव से उत्तर देते "अरे भाई वह मनुष्य पुस्तकों का क्या करेगा ? आखिर पढ़ेगा ही, उसके पास ही रहने दो।"

लोगों को भी उनमें निर्लिप्तता और निरपेक्षता देखकर अत्यधिक विश्वास हो चला था। मुझे एक घटना अभी भी याद है। एक दिन शाम को ५ बजे एक साहब घर आये और रुमाल खोलकर तीन पुस्तकें निकालीं। कहने

लगे मास्टर साहब, पुस्तकालय तो आ न सका, कुछ देर हो गई थी; आप इन्हें जमा कर लीजियेगा। कुछ इधर, उधर की बातों के पश्चात वे चले गये। दूसरे रोज मास्टर साहब ने जब पुस्तकालय में किताबें जमा की तो एक किताब में २००) रु० के नोट निकले। दोपहर मास्टर साहब उस आदमी के मकान पहुंचे बोले 'गलती से आपके २००) रु० के नोट किताब में रह गये थे' तो वह कहने लगा "नहीं मास्टर साहब, मैंने चलाकर ही तो रखे थे, मुझे मालूम था आपसे अच्छा व्यक्ति मुझे नहीं मिल सकता था, जो इन्हें सदउपयोग में लगा सकता"। यह घटना इस बात की परिचायक है कि अन्य लोगों की तरह मास्टर साहब रुपये के पीछे नहीं दौड़ते थे, बल्कि रुपया उनके पीछे दौड़ता था। मास्टर साहब का जीवन पूर्ण त्यागमय था और इसी कारण लोगों को उनमें विश्वास था।

मास्टर साहब का हृदय बड़ा विशाल था। उसमें सभी की गल्तियां आसानी से समा जाती थीं। लोगों ने उन्हें भी दुःख पहुंचाने की चेष्टा की, लेकिन उन्होंने उसे अत्यन्त शान्त भाव से सहन किया। हँसकर कह दिया करते "उस बेचारे का दोष नहीं, मैंने जो कुछ बुरे कर्म किये उसका फल तो मुझे भोगना ही है"। इसी तरह शारीरिक कष्टों को समझते थे। देहावसान के दो तीन रोज पहिले उन्हें पेट में अत्यधिक पीड़ा थी। सारी आतें कटती थीं, शायद उनमें जख्म हो चले थे। डाक्टरों को काफी परेशानी थी। यन्त्रणा का अनुमान सहज ही किया जा सकता है, लेकिन उन्होंने कभी उसे चेहरे पर प्रकट न होने दी। दुःख के आघात से वे स्वयं कभी टूटे नहीं। कर्म-दर्शन पर उनका बड़ा विश्वास था—केवल इसी तरह नहीं कि वह निष्क्रिय हो जायें और सोच लें जो कुछ बुरे कर्म करे हैं उनका फल तो मिलना ही है, बल्कि इस तरह भी कि मनुष्य जन्म पाया है तो आगे के लिए अच्छे बीज बोये जायें।

मास्टर साहब में अदभुत सहन शक्ति जरूर थी, फिर भी उनका हृदय बड़ा भावुक और कोमल था। दूसरों के दुःखों को देखकर वे आकुल हो जाते थे। जब वे कोई दुःख भरा किस्सा सुनाते तो ऐसा लगता मानों मन भीग गया हो। वे गदगद् हो उठते। उनका तरल हृदय आंखों के रास्ते बह निकलता। तब ऐसा लगता मानों मास्टर साहब का स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं है। वे जो कुछ हैं दूसरों के लिए। उस समय उन पर स्वयं की कोई सीमायें नहीं रहतीं, क्योंकि स्वयं तो बस वे समर्पित थे। दूसरों के दुःख में दुःख मानना और उनका दुःख दूर करके प्रसन्न होना ही उनका जीवन था। यही कारण था कि सभी उनसे खुश रहते थे। किसी का उनसे द्वेष होता तो भी उनकी

निस्वार्थता के आगे, उनके तेजोमय व्यक्तित्व के सन्मुख एक बारगी तो उसका मस्तक झुक जाता।

मास्टर साहब के हृदय में किसी के लिए द्वेष भाव नहीं है, यह मुझे एक ही दिन मालूम हुआ। वह घटना मुझे अभी तक याद है और हमेशा याद रहेगी। काफी छोटा था मैं। घर से मैं पुस्तकालय पढ़ने जाया करता था। घर और पुस्तकालय में ज्यादा फासला नहीं था इसीलिए घर से अकेले जाने की इजाजत थी। रास्ते में एक नीलगर (रंगरेज) पड़ता था। उसके एक बड़ा मेमना बल्कि मेढा कहिये रहा करता था। जैसे मैं उधर से निकलता कि वह अपनी जगह से खड़ा हो बीच सड़क में अपने दोनों पैरों पर खड़ा हो, अपने सिर से जिसमें छोटे२ सींग थे, मुझे मारता। अगर मैं उस नीलगर के सामने से भाग कर निकलता तो वह भी मेरे पीछे दौड़ता और मारे बिना न रहता। वह सिर्फ मुझे ही मारता और किसी से कुछ न कहता। तीन-चार रोज ऐसा ही क्रम चला, मैं उस मेढे से बहुत डर गया था। मैं पांचवें रोज पुस्तकालय पढ़ने नहीं गया और बाबा साहब से मैंने सारा हाल बतलाया। वे हंसे और बोले हम तुमको एक तरकीब बतलाते हैं। बोले-आज रात को तुम सोओ तो हाथ जोड़कर कहना "हे मेढे, मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है, जो मुझको इतना मारता है, तङ्ग करता है, और अगर पिछले जन्म में तुझे मैंने तङ्ग किया हो तो मुझे क्षमा करदे"। मैंने ऐसा ही किया और दूसरे रोज जब मैं उधर से गुजरा तो वह सिर्फ अपनी जगह खड़ा ही हुआ, लेकिन मुझे तंग नहीं किया। फिर दूसरे रोज मैंने उसी तरह सोते समय उससे माफी मांगी और उसके बाद मैं उस मेढे के लिए ऐसा हो गया जैसे दूसरे चलने वाले पथिक। मैंने आनन्द मिश्रित आश्चर्य से मास्टर साहब से पूछा तो कहने लगे—मैं तो सोते समय सारी दुनियां के जीवों से इसी प्रकार प्रतिदिन, पहिले क्षमा-याचना करता हूँ और फिर उनको मेरे प्रति किये अपराध के लिए क्षमा-प्रदान करता हूं। वास्तव में कितना साधारण तरीका है, ऐसी असाधारण चीज करने का!

वे सबको प्रेम जरूर करते थे लेकिन उन्हें किसी से मोह नहीं था। वे अपने स्वयं के लड़के को भी उनकी जरूरतों के लिए रुपया मांगने पर मना कर देते थे, किन्तु किसी गरीब विद्यार्थी को रुपये की आवश्यकता होती तो पहले उसे सहायता पहुंचाते।

मास्टर साहब कवि नहीं थे, लेखक अथवा चित्रकार या शिल्पी भी नहीं थे, न वे कोई राजनीतिज्ञ ही थे। उन्हें केवल एक ही लालसा थी और वह थी आध्यात्मिक ज्ञानोपार्जन करने की, आत्मा को पहिचानने की और दूसरों

को भी यह ज्ञान कराने को। जीवन के आखिरी दिनों में वे किसी कार्य में हाथ नहीं डालते थे, खुद ही कुछ सोच में मग्न रहते थे, आध्यात्मिक भजन गुनगुनाया करते थे। उनको एक भजन बहुत ही प्रिय था जिसके बोल तो मुझे याद नहीं हैं, लेकिन उसका आशय यह था कि मनुष्य के पास चाहे सब संम्पत्ति हो, सुख के सर्व साधन हों, उसका यश भी खूब फैला हो, लेकिन यदि उसके स्वयं के मन में शान्ति न हो तो सब व्यर्थ है।

जब कभी पुस्तकालय में पाँच सात मनुष्य जमा होते तो वे उनको धीरे धीरे मीठे शब्दों में मनुष्य जन्म को सार्थक करने के हेतु आत्मा की ओर थोड़ा ध्यान देने को कहते और उक्त भजन फिर वे गाकर भी सुनाते। उनके शब्दों में पता नहीं ऐसा क्या होता था, ऐसा लगता जैसे अशांति, जल्दबाजी, भूल, व्यस्तता, शोक, भय आदि सांसारिक चिन्तायें और उनके साथ लगी आकुलता और आर्त्तध्यान कुछ देर के लिए मानों कोसों दूर चले गये हों, और जीवन में बचा हो सिर्फ शान्ति, सादगी और संतोष। जीवन का प्रत्येक क्षण कुछ बढता हुआ और मधुर लगता। जीवन में एक प्रशांत सौन्दर्य अनुभव होता और लगता मानों इस मनुष्य-जीवन में गहरे में कोई मतलब छिपा पड़ा हो।

सच्ची श्रद्धांजलि उनकी पारमार्थिक प्रवृत्तियों को चालू रखना है

(श्री सूरजमल साह)

सर्व प्रथम मास्टर साहब के दर्शन मैंने सन् १९२६ में किये जब मुझे चांदपोल हाईस्कूल में तीसरी श्रेणी में भरती कराया गया। मुझे तो उस समय अपने हित-अहित का ज्ञान न था, मैं उनके देव-स्वरूप को क्या पहिचानता, किन्तु मास्टर साहब की पारखी दृष्टि ने तुरन्त निश्चय कर लिया कि मुझे सहायता की कितनी आवश्यकता है। मुझे और मेरी माताजी को उनसे सहायता लेने में झिझक थी, धर्मादे का पैसा भला हम कैसे लेते? मास्टर साहब को देर न लगी हमारी दुर्बलता को अथवा बेवकूफी को समझने में और इसका इलाज करने में। मुझे हैडमास्टरजी ने बुलाया और सरकारी स्कालरशिप के रूप में २) रु० माहवार मुझे मिलने लगे। इसके लिये हम इन्कार क्यों करते! हमें तो खुशी हुई। दुर्भाग्य से मैं पांचवीं श्रेणी में फेल

हो गया तो भी मेरी स्कालरशिप बारह महीने तक जारी रही। बरसों बाद जब आंखे खुली तो पहचाना कि यह सहायता सरकारी नहीं थी बल्कि वही थी जिसके लिये हमने जरूरत होते हुये भी मानसिक दुर्बलता के कारण लोक लाज के डर से लेने से इन्कार किया था।

मुझे गौरव अनुभव होने लगा कि मास्टर साहब का वरद हस्त मेरे सिर पर है। एकमात्र उन्हीं की अनुकम्पा से मैं बी० ए० पास कर सका, जबकि मेरी घर की परिस्थिति मुझे मैट्रिक से आगे नहीं बढ़ने देती। मैं एक साल का भी न होने पाया था कि मेरे पिताजी का स्वर्गवास हो गया किन्तु २५ वर्ष तक, जब तक मास्टर साहब जीवित रहे उन्होंने मुझे अपने पिता का अभाव एक क्षण के लिये भी महसूस नहीं होने दिया। मास्टर साहब मेरा मस्तिष्क निराकुल रखते थे। जब ठीक समझा फीस के लिये रुपये हीरालाल फन्ड से कर्ज दिलवा दिये, कभी अपने पास से दे दिये, किताबें लायब्रेरी से खरीदवा दी, चार साल तक ट्यूशन फीस माफ करवा दी। इसी प्रकार उन्होंने जयपुर के कितने ही गिरे हुए बालकों को उठाया, अनाथों को सनाथ किया, असहाय विधवाओं की सहायता की। दुःखी, दरिद्र और पीड़ित प्राणियों की अकथनीय सेवा, सच्ची किन्तु दिखावे से दूर, जीवन पर्यन्त मास्टर साहब ने की।

इतना ही नहीं, मास्टर साहब का लक्ष्य हम लोगों के केवल जीवन-निर्वाह तक ही सीमित नहीं था। वे इससे भी अधिक जोर आत्मोद्धार की ओर देते थे। जब कभी किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय के विद्वान् त्यागी जयपुर में आते तो मास्टर साहब स्वयं वहां जाते और मुझे भी साथ ले जाते। उनके साथ मैंने कितने ही उपाश्रयों में साधुओं के प्रवचनों को सुना है जिनमें विद्वान साधु चौथमलजी महाराज की कुछ बातें आज भी दैनिक जीवन में प्रेरणा देती हैं। मास्टर साहब के डाले हुए संत-समागम के संस्कार आज भी मुझे बड़े लाभप्रद सिद्ध हो रहे हैं।

मास्टर साहब साधु थे या गृहस्थ, मानव थे या देवता, क्या थे और क्या नहीं, यह शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह तो वे ही लोग जानते होंगे जो मास्टर साहब के निकट सम्पर्क में आये हों। मास्टर साहब की मानवता के दर्शन, उनका मन वचन कर्म से एकत्वरूप, हित, मित वाणी का आस्वादन, निरन्तर परोपकार में रत, निष्कपट, निष्पाप एवं निस्वार्थ उनकी अथक तथा मूक बहुमुखी प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन श्रद्धांजलि के द्वारा कौन करा सकता है! फिर भी इससे कुछ अपनी बातें उनके बहाने लिखने का मुझे

जैसों को एक अवसर मिला है। हम इतने ही में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री न मान लें। मास्टर साहब का परिचित समुदाय कुछ कम नहीं है। यदि हम उनके आदेशों को थोड़ा भी अपने जीवन में उतारें तो हमारे गाहस्थ्य जीवन, सामाजिक जीवन एवं धार्मिक जीवन को स्वर्गोपम बना सकते हैं। मास्टर साहब के प्रति श्रद्धांजलि तो उनकी पारमार्थिक प्रवृत्तियों को चालू रखने में अपनी शक्ति अनुसार योग दान देना ही है।

मास्टर साहब त्याग, दया और विनम्रता की मूर्ति थे

(श्री देवीशंकर तिवाड़ी)

स्वर्गीय श्री मास्टर मोतीलालजी को आज से १०, १२ वर्ष पूर्व पढ़ा लिखा ऐसा कौन व्यक्ति है जो न जानता हो ? वे जयपुर में गणित के एक योग्य, माने हुये अध्यापक रहे। गणित की समस्याओं को हल करने के कारण ही नहीं वरन् जगत् के जटिल जीवन-प्रश्न को हल करने की योग्यता रखने के कारण वे सबकी श्रद्धा के पात्र बन गये थे। जिस प्रकार वे गणित के प्रश्न हल करने के गुर बताते थे वैसे ही उन प्रश्नों के भी गुर रटाया करते थे। प्रारम्भ से ही आन्तरिक भावनाओं को साफ रखने के अभ्यस्त मास्टर साहब दूसरों को गन्दा देख क्रोधित होते, उन्हें सफाई की शिक्षा देते थे और कभी कभी तो स्वयं उनके घर जाकर ही दिव्य झाड़ू दे आते थे। लोक और परलोक दोनों को ही सुधारने की ओर उनकी दृष्टि रहती थी। पुस्तकालय में वे रहते थे परन्तु वास्तविक रूप में वे स्वयं ही पुस्तकालय थे। सब धर्मों का सार ग्रहण करने वाले, भेद-भाव रहित, साधु प्रकृति मास्टर साहब त्याग, दया, विनम्रता की मूर्ति थे। आलस्य से परे रहे वे निरन्तर किसी न किसी कार्य में लगे रहते थे। आज भी कभी कभी वह वृद्ध, सरल, कान्तिमय मूर्ति स्मरण हो आती है।

सैंतालीस साल पहले विदेशी कपड़ों की होली

(हकीम मोहनलाल जैन)

रुजवाँजाह फिरदौस मंजिल,[1] मास्टर साहब मोतीलालजी संघी के हालात जिन्दगी और जज़बात इनसानी[2] गहर मिन्नुलशम्स[3] है। मास्टर साहब देश प्रेम और राष्ट्रीय भावनाओं से शराबोर[4] थे। इसकी एक मिसाल मुझे भी याद आती है। सन् १६०५-६ में जब बंग-भंग का आंदोलन चल रहा था और बंगाल से स्वदेशी का नारा बुलन्द हुआ था, उस ज़माने में जवाहरलालजी जैन, वैद्य अर्जुनलालजी सेठी, गोपीचन्दजी सोगानी (संचालक, मित्र कार्यालय) और मास्टर साहब मोतीलालजी के पास जितने विदेशी कपड़े थे, उन सबकी होली उन्होंने कर डाली थी। उस जमाने में वर्धमान जैन विद्यालय कायम होने के पहले मैं सेठीजी के पास ही रहता और पढ़ता था। इस वाकये के बाद मास्टर साहब ने तो कभी विलायती कपड़ा अपने जिस्म पर नहीं डाला, बल्कि किसी काम में ही नहीं लिया और जहां तक मुमकिन हुआ अपने गांव चौमू के बने हुए कपड़े ही इस्तैमाल फरमाते रहे।

× × ×

मास्टर साहब की जिन्दगी का एक मजेदार वाकया और याद आता है। सन् १६११-१२ के करीब मास्टर साहब की जोज़ए मोहतरिमा ने रहलत फ़रमाई[5]। इसके बाद उन्होंने जिन्दगी भर के लिए ब्रह्मचर्य अपना लिया, लेकिन उनके दोस्त लोग उनकी शादी करा देने पर उतारू थे। मास्टर साहब को जब किसी भी तरह से मंजूर नहीं करा पाये तो सेठीजी को एक मज़ाक सूझा। इन दोस्तों में से ही एक सज्जन श्री केसरलालजी गोधा को जिनके निहायत खूबसूरत दाढ़ी और मूंछें थीं दुल्हिन बनाया गया और मास्टर साहब को दुल्हा बनाकर शादी का पूरा और बाकायदा स्वांग रचाया गया। दोस्तों में दावतें और मिठाइयां उड़ीं उस वक्त से उनके दोस्त लोग मास्टर साहब को बाबा और केसरलालजी को माजी कहने लगे और उनके ये अलकाब ताजिन्दगी कायम रहें, बल्कि केसरलालजी तो इसी नाम से पहचाने जाते थे।

---

१. स्वर्ग के अधिकारी तथा स्वर्गस्थ २. माननीय भावनाएं ३. सूर्य की भांति प्रकट ४. ओत-प्रोत ५. आदरणीय धर्मपत्नी का देहावसान हुआ।

मास्टर साहब सच्चे अर्थ में कर्मयोगी और तपस्वी थे

(श्री दौलतमल भंडारी)

श्रद्धेय मास्टर साहब मोतीलालजी सेवाभावी एवं साधुस्वभावी व्यक्ति थे। वे राजनीति और दलबन्दी से कोसों दूर रहते थे, पर देश की स्वाधीनता प्राप्ति और सच्ची नागरिकता के प्रसार में उन्होंने जो काम किया वह बुनियादी काम कहा जा सकता है। वे राजनीति से सीधा सम्पर्क न रखते हुए भी खादी पहना करते थे। खादी का देश की स्वाधीनता में जो स्थान रहा है वही मास्टर साहब के कार्यों का जयपुर के नागरिकों की उन्नति में रहा है। वे सच्चे, सीधे और सहृदय व्यक्ति थे। त्याग और तपस्या की मूर्ति मास्टर साहब अपने प्रत्येक कार्य में अपने आदर्शों को अपनाते थे। यही कारण है कि वे निःस्वार्थ भाव से समाज सेवा और जनकल्याण के मार्ग में लगे हुए थे।

मास्टर साहब ने अपने जीवन और कार्यों द्वारा मास्टर शब्द को सार्थक किया। सबसे पहले वे अपने आप पर मास्टर हुए। उन्होंने अपने कषायों पर पूरा काबू किया। पुराने दृष्टिकोण से कम अवस्था में विधुर होने पर भी उन्होंने अपना दूसरा विवाह नहीं किया और धीरे धीरे अपने आपको पूर्णतया समाज-सेवा में लगा दिया।

नौ वर्ष की अवस्था में जब मैं तीसरी श्रेणी में अध्ययन करता था उस समय से ही मेरा उनसे सम्पर्क आरम्भ हो गया था। गणित उनका मुख्य विषय था और मेरी इस विषय में विशेष रुचि रही है। मेरी गणित में विशेष रुचि और अच्छी गति होने के कारण उनकी मेरे ऊपर अत्यधिक कृपा हो गई और मैं उनका कृपापात्र शिष्य हो गया। गणित पढ़ाने में वे दक्ष थे। इस विषय को इतनी सरलता, सरसता, एवं उत्साह से पढ़ाते थे कि निकम्मे और मन्दमति छात्र भी इस विषय में रस लेने लगते थे। वे केवल स्कूल के मास्टर ही नहीं थे। उनके लिए तो प्रत्येक छात्र पुत्र तुल्य था। मास्टर साहब विद्यार्थी के विकास के लिए आतुर रहते थे। वे छात्र के चरित्र निर्माण पर विशेप ध्यान रखते थे। हजारों विद्यार्थियों ने उनसे शिक्षा पाई होगी। उनमें कोई ही ऐसा होगा कि जिसको मास्टर साहब से सदाचार, नैतिकता, धार्मिकता और त्याग का उपदेश न मिला हो। उनका उपदेश केवल उपदेश ही नहीं था, उसमें जीवन

निर्माण की अपूर्व शक्ति थी। वे अपने विद्यार्थी को सच्चा नागरिक बनाना चाहते थे, त्याग और सेवा का पाठ पढ़ाकर पावन-पथ का अनुगामी बनाना चाहते थे।

मास्टर साहब स्कूल के मास्टर न रहकर सर्वसाधारण के मास्टर बन गए। उन्होंने जनता में से अज्ञानान्धकार दूर करने का संकल्प किया और इस संकल्प को पूरा करने में अपने जीवन को लगा दिया। उन्होंने पुस्तकों का संग्रह आरम्भ किया और शनैः शनैः इस संग्रह ने पुस्तकालय का रूप धारण कर लिया। सन्मति पुस्तकालय को एक व्यवस्थित और उल्लेखनीय पुस्तकालय बना देना मास्टर साहब जैसे आदर्श तपस्वी ही का काम था। पुस्तकों पर गत्ते चढ़ाना, घर घर जाकर पुस्तकें पढ़ने के लिए देना, फिर उनको वापिस लाना, खोजाने पर क्रोध न करना आदि बातें तो उनके स्वभाव में सम्मिलित हो गई थीं। वर्षों तक उनका यही कार्यक्रम चलता रहा। गरीब विद्यार्थी और विधवाओं की सहायता करना, निरन्तर परोपकार में लगे रहना सच्चे साधु ही का काम हो सकता है। इस प्रकार की लगन, सेवा, त्याग, श्रमशीलता और कार्य-दक्षता अब कहां ?

मास्टर साहब की सादगी और आदर्श विचारों का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता था। उनका जीवन लोगों में कर्त्तव्यनिष्ठा, सादगी और विनयशीलता का प्रेरक था। जैन धर्म के प्रति विशेष अनुराग होते हुए भी वे सब धर्मों को समान समझते थे। उन्होंने सन्मति पुस्तकालय में सब धर्मों के मान्य ग्रन्थों का संग्रह किया।

मास्टर साहब एक विश्व मानव थे। वे बार बार इस बात की याद दिलाते रहते थे कि शरीर और आत्मा भिन्न है, संसार के प्रलोभनों में फंस कर आत्मा को न भूलो। वे हमेशा ऐसे भजन याद किया करते थे जिनसे आत्मा को शान्ति मिले।

मास्टर साहब का जीवन जनता की सेवा में बीता। वे किसी को दुःखी नहीं देख सकते थे। दूसरों का कष्ट देखकर उनका हृदय पसीज जाता था और दूसरों की सेवा करने के लिए सर्वस्व तक त्याग करने की उनमें सदा तैयारी रहती थी, इस प्रकार मास्टर साहब सच्चे अर्थ में कर्मयोगी और तपस्वी थे।

जो इन्सानियत से दूर थे उनको वो इन्सान बना दिया करते थे

(श्री चांदबिहारीलाल माथुर 'सबा')

मेरे मुकर्रम व मुअज्जम[1] मास्टर मोतीलालजी साहब संघी, जिनका इन्तकाल पुरमलाल[2] १७ जनवरी, १९४९ को हुआ है, हमारे शहर जयपुर में एक हस्ती[3] थी जिसकी मिसाल उनके जमाने में तो क्या वह जमाने माजी[4] जिसमें मुकतदर[5] हस्तियों की मिसालें कसरत से मिल जाया करती हैं उसमें भी मुश्किल से निकलेंगी। मेरे देखे हुए जमाने में तो कोई ऐसी हस्ती नजर नहीं आती, मुझसे पहले के ज़माने में होगी।

इन्सान में खूबियां भी हुआ करती हैं और बुराइयां भी। दोनों सिफतों के रखने वाले हर ज़माने में कसरत से मिल जाते हैं, लेकिन जो सरापा[6] खूबी ही खूबी हो वह कुदरत ही कम पैदा करती है और ऐसी ही हस्ती को दुनियां रोती है और याद करती है। यही सबब है कि मास्टर साहब मरहूम[7] को आज मैं ही क्या शहर का शहर याद करता है और रोता है।

आपने शागिर्दों के साथ जो बर्ताव उनका क्या मदरसे में और क्या मदरसे के बाहर जैसा बुजुर्गाना, मुशफकाना[8] और दोस्ताना था उसकी मिसाल हर मास्टर में मिलना मुश्किल है। वो सिर्फ अपने शागिर्दों को दरसी[9] किताबें पढ़ाकर ही अपनी जिम्मेदारी को खत्म नहीं समझते थे, बल्कि उनकी हर शागिर्द के लिए यह कोशिश होती थी कि वो पढ़ लिखकर एक आदमी बने और ऐसा आदमी बने जो सही माने में आदमी कहलाने का मुस्तहक[10] हो और इस कोशिश में वे बहुत कुछ कामयाब हुए। उनके शागिर्दों में क्या मेरे साथ वाले और क्या मेरे बाद के और पहले के सब-के सब ऐसे नजर आते हैं कि जिन पर मुझे अपने उस्ताद भाई कहने का फ़क्र है। इसके अलावा अदब की तरफ रुझान करना उनका खास मकसद था। इसके लिए उन्होंने एक कुतुब खाना[11] खोला जिसका नाम श्री सन्मति लाइब्रेरी रक्खा और आज भी है।

---

१. श्रद्धेय तथा पूज्य २. शोकजनक देहांत ३. व्यक्तित्व ४. भूतकाल ५. आदरणीय ६. सिर से पैर तक ७. स्वर्गीय ८. कृपापूर्ण ९. पाठ्यक्रम संबंधी १०. अधिकारी ११. पुस्तकालय।

पहले तो उनका मतलब व मकसद सिर्फ तुल्बा[12] को इस तरफ़ रगबत दिलाना था लेकिन इसने शहर भर के जवान, बूढ़े, मर्द, औरत सबको बड़ा फायदा पहुंचाया। अव्वल २ तो जिस भी मजाक[13] का आदमी अपने मजाक के मुताबिक किताब पढ़ने को लेने गया उसको उसी के मजाक के मुताबिक किताब देना शुरू किया। फिर रफ्ता २ उसे ऐसी किताबें भी सिफारिश के साथ देना शुरू कर देते जिसको वो समझते कि यह अगर पढेगा तो इन्सान बनने में मुफीद और कारगर होगी। यूं बड़ी होशियारी से किताबें दे देकर वो माहौल[14] ही बदल दिया करते थे और अक्सर वो लोग जो सिर्फ इस किस्म की किताबें पढ़ते थे जो बिल्कुल गैरमुफीद होती और जिन्दगी के किसी मसरफ में कारआमद नहीं होती, उनको अपनी नसीहतों और मुश्विरों से दूसरी जानिब मुफीद और कारआमद किताबें दे देकर लगाते थे।

अगर उनसे किसी दीनी या दुनियाई मामले में तबादला खयालात[15] किया जाता तो उनकी राय निहायत माकूल व मुफीद साबित होती थी। गर्जे कि खुद एक मुकम्मिल इन्सान ही नहीं, बल्कि जो इन्सानियत से दूर थे उनको इन्सान बना दिया करते थे। ऐसे शख्स का किसको रंज न हो और दुनियां क्यों न मातम करे ? यही ऐसे लोग हैं जिनकी जिन्दगी पब्लिक के सामने लाई जावे।...... वाज़े रहे कि मास्टर साहब मरहूम मेरे भी प्राइवेट टीचर रहे हैं।

साधुता के लक्षण उनमें पूरे पूरे थे

(श्री श्यामबिहारी लाल भार्गव)

मास्टर मोतीलाल जी संघी के सम्पर्क में आने का अवसर मुझे सन् १९१२ में जब मैं चौथी कक्षा में दाखिल हुआ, तब मिला। आठवीं कक्षा तक उन्होंने गणित पढ़ाया। बच्चों की शुरू की शिक्षा में अध्यापक ऐसा काम करता है जैसाकि एक पिघले हुए धातु को ढ़ालने वाला काम करता है। एक बार ढलने के बाद धातु ठंडा होने पर सख्त हो जाता है और जैसी उसकी शक्ल ढ़ल जाती है वह सदा वैसा ही रहता है। इसी तरह जब शुरू में अध्यापक अच्छा मिल जाये तो उसके सम्पर्क से उसके शिक्षार्थी भी अच्छे हो जाते हैं। खुश नसीबी से मुझे मास्टर मोतीलालजी जैसे अध्यापक मिले और पांच साल

---

१२. विद्यार्थी १३. रुचि १४. वातावरण १५. विचार-विनिमय

उनका सम्पर्क रहा। मेरी शुरू की शिक्षा में अन्य जो अध्यापक मिले, उनमें मास्टर गंगाबख्शजी तथा प्रो० गोविन्द प्रसाद जी के नाम का यहाँ जिक्र किये बिना नहीं रहा जा सकता।

मास्टर मोतीलालजी बड़े प्रेम से और खूब समझा-समझा कर पढ़ाया करते थे जो विद्यार्थी ठीक तरह काम नहीं करते थे उनको वे एक ही तरह की सजा दिया करते थे। वे हाथ की अंगुलियों के बीच में तीन पैंसिलें लगा-कर दबाया करते थे। उनका जीवन बहुत सादा था और जो कुछ उनको तनख्वाह मिलती थी उसमें से बचाकर वे गरीब लड़कों की मदद किया करते थे। बिल्कुल साधु वृत्ति के व्यक्ति थे। यद्यपि बानि में वे साधु के रूपधारी नहीं थे लेकिन साधना के लक्षण उनमें पूरे थे।

उनमें दया का भाव भी खूब था। गरीब विद्यार्थियों को वे खुद भी मदद करते थे तथा और लोगों के पास जाकर उन्हें मदद दिलवाते थे। आज भी उन मदद पाने वालों में से ऐसे हैं जिन्होंने उच्च पद भी पाया और उनका काम भी काफ़ी सराहनीय रहा।

पितृ-स्वरूप मास्टर साहब

(श्री केवलचन्द जैन, वैद)

करीब ४१ वर्ष पूर्व की बात है, जब मुझे मास्टर साहब ने शिवपोल स्कूल में छठी श्रेणी में भर्ती कराया। उस वक्त से ही मेरे पर उनकी छत्र-छाया रही। मेरी शादी १३ साल की उम्र में ही हो गई थी जबकि मैं छठी श्रेणी में पढ़ता था। घर की स्थिति कुछ खराब थी। दुकान वगैरह सब बिक गई थी। मैं उसी वक्त से नौकरी के तलाश में रहने लगा। लेकिन मास्टर साहब की प्रेरणा से मैं B.A. तक पहुंच गया, क्योंकि उनका कहना था कि पढ़ते रहो और नौकरी की तलाश भी करते रहो। जब नौकरी मिल जाय तब पढ़ना छोड़ देना। विद्यार्थी जीवन में एक पिता के सदृश उनकी मेरे पर अनु-कम्पा रही। उन्होंने मेरे लिये मास्टर लगवाया, हलवाई के यहां दूध की बन्धी करवाई, जहां मैं रोज रात को आधा किलो दूध पी जाता था। किताबें व कॉलेज की फीस का भी उन्होंने प्रबन्ध करवाया। मास्टर साहब के साथ साथ मैं अपने ससुर साहब का भी ऋणी हूं क्योंकि मेरी पढ़ाई वगैरह का सारा खर्चा

उन्होंने ही किया। लेकिन यह सब मास्टर साहब की प्रेरणा से था। आखिरकार नौकरी भी उन्होंने ही दिलवाई जिससे आज मैं अपने पैरों पर खड़ा हूं।

गर्मी की छुट्टियों में अक्सर मैं अपने साथियों के साथ लाईब्रेरी चला जाता था और पढ़ा करता था। जब पढ़ चुकता तो मास्टर साहब मुझे अपने पास बिठा लेते और नई किताबें जो आतीं उनका रजिस्टर में इन्दराज करवाते व भजन लिखवाते। रात को भी कभी २ मैं उनके दर्शन करने चला जाता था। उस वक्त क्या देखता कि मास्टर साहब अंधेरे में किताबों पर गत्ता चढ़ाया करते थे। इससे मैंने जाना कि समय का सदुपयोग किसे कहते हैं। उनके सादे रहन-सहन की, कर्त्तव्य निष्ठा की, हर समय काम में लगे रहने की, मेरे जीवन पर गहरी छाप है। मैं उनको क्या कह कर पुकारूं, बस वे मेरे पितृ-स्वरूप थे।

घर में ही बैरागी

(श्री केसरलाल कटारिया)

श्रद्धेय मास्टर साहब के निकट आने का सौभाग्य मुझे आज से करीब ५५ वर्ष पहले जब मेरी आयु १३ वर्ष की थी प्राप्त हुआ था। मेरा जीवन जो कुछ भी है उसके विकास में मास्टर साहब का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मैं जब ५ वीं कक्षा में पहुंचा तो मेरे पिताजी ने यह ख्याल किया कि उर्दू, फ़ारसी जानने वाले को राज की नौकरी सुगमता से मिल सकती है। मुझे हिन्दी की जगह द्वितीय भाषा उर्दू फ़ारसी दिलाई। मास्टर साहब को यह बहुत अप्रिय लगा और मेरे ६ ठी कक्षा में पहुंचने पर मुझे फिर से हिन्दी-संस्कृत पढ़ने पर मजबूर किया। मेरे यह कहने पर कि इतना कोर्स मैं कैसे पूरा कर सकूंगा उन्होंने मेरे लिए प्राइवेट तौर पर एक पंडित जी को रखवा दिया। उन्होंने मुझे संस्कृत और गणित दोनों विषयों की छठी-सातवीं कक्षा में ही मैट्रिक कक्षा तक की योग्यता प्राप्त करा दी। उन्हीं की कृपा से मुझे हमेशा गणित में सौ में से सौ अंक मिलते रहे।

मास्टर साहब की दिनचर्या उन दिनों इस प्रकार रहा करती थी कि सुबह जल्दी ही निवट कर वे एक ट्यूशन पर जाते थे जिससे करीब ८ बजे आ जाते थे। फिर घर पर विद्यार्थी आजाते थे, उनको पढ़ने में जो भी कठिनाई होती उसमें सहारा देते थे। खाना खाने बैठते थे उस समय तक भी विद्यार्थियों

को कुछ न कुछ समझाते रहते थे। फिर स्कूल जाते और वहाँ से आकर खाना खाते थे। फिर विद्यार्थियों का जमघट जमता था, उनको फिर रात तक पढ़ाते ही रहते थे। इसी बीच में यदि किसी छात्र को किताबों, फीस, खाना आदि के लिये द्रव्य की तंगी होती तो उसे भी मास्टर साहब ही दूर करते थे।

सादा भोजन, सादा कपड़ा, निष्कपट व्यवहार, निःस्वार्थ प्रवृत्ति, सदैव आत्म-चिन्तन में रत रहना और अपनी सारी शक्ति परोपकार, मानव धर्म प्रचार व ज्ञान-प्रचार में लगाना, यही उनके जीवन की विशेषतायें थी।

पुस्तकालय की बहुत सी पुस्तकें लोगों में बकाया चल रही थीं तो मैंने एक बार प्रस्ताव रखा कि आप लोगों से पुस्तकों के लिये जोरदार तकाजा करवावें और जो नहीं देते हों उनसे उसकी कीमत वसूल करें, नही तो बकाया की संख्या निरंतर बढ़ती ही जावेगी। वे हंसकर बोले—तू तो बावला है समझता नहीं है। अरे, पुस्तक का उपयोग पढ़ना है अतः जिसके भी पास है वह या तो पढ़ी जा रही होगी या किसी दूसरे से तीसरे-चौथे हाथ में चली गई होगी। वहां भी उस पुस्तक का वही उपयोग होता है जो हम करते है। अब यदि उनके पास पुस्तक रह गई है तो कौनसा अनर्थ हो गया। इसके अलावा जितनी शक्ति हम बकाया पुस्तकें वसूल करने में व्यय करेंगे उसके बजाय हम उसका उपयोग ज्ञान-प्रसार में करें, तो बहुत लाभ होगा।

परम स्नेही आप्त पुरुष

(राजवैद्य पं० रामदयाल शर्मा)

श्रीयुत परम श्रद्धेय मास्टर मोतीलालजी के दर्शन मैंने अपने पूज्य पिता श्री राजवैद्य नन्दकिशोरजी की आज्ञानुसार किये थे। पूज्य पिताजी ने मुझे ११ वर्ष की उम्र में मास्टर साहब के पास अपने जीवन के धार्मिक, चारित्रिक तथा आधुनिक जगत् के विशाल एव प्रतिपल विज्ञान परक हो रहे दृष्टिकोण को भारतीयता की दृष्टि से हृदयङ्गम करने की भावना से भेजा था। कहना न होगा कि प्रथम दर्शन में ही मैंने उनको परम स्नेही आप्त पुरुष के रूप में सदा के लिए अपना मार्गदर्शक अंगीकार कर लिया। उन्होंने मुझे सनातन धर्म की मर्यादाओं पर विश्वास कराने वाली तथा तदनुरूप सर्वधर्मो में सामञ्जस्य स्थापित कराने वाली लघु कथाओं की पुस्तकें पढ़ने को दीं, एवं 'णमोकार'

मंत्र के दृढ़ निष्ठापूर्वक अहर्निश स्मरण रखने से कैसे प्राचीन महापुरुषों को बाल्य जीवन में अद्भुत सफलतायें मिली थीं और इस प्रकार आस्तिक्य बुद्धि ही जीवन की सभी सफलताओं की अद्वितीय कुंजी है, यह मेरे जिज्ञासु हृदय में सरलता से आरोपित कर सहज ही सभी अनर्थ परम्पराओं से बचाने वाले 'अहिंसा-सत्य-अस्तेयादि' सर्व धर्म सम्मत दशलक्षणक सनातन धर्म पर दृढ़ निष्ठा उत्पन्न की। यह वस्तुतः उन जैसे महामानव द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। फलतः सम्पूर्ण चराचर विश्व में परमात्मा की सत्ता की अनुभूति से मानव ऐहलौकिक और पारलौकिक सभी समस्याओं का समाधान करता हुआ मनुष्य जीवन के चरमफल 'धर्म, अर्थ काम, मोक्ष' इन चार पुरुषार्थों की सहज ही सम्प्राप्ति कर सकता है। यह मेरा विश्वास उत्तरोत्तर वृद्धिगत हो रहा है।

उस महापुरुष की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए किये जा रहे सभी प्रयास इस व्याकुल विश्व को स्थायी शान्ति प्रदान करेंगे, ऐसी मेरी मान्यता है।

सरल एवं स्नेह की मूर्ति

(श्री माधव शर्मा)

मुझे आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व का वह समय अच्छी तरह याद है जबकि स्व० मास्टर मोतीलाल जी के मुझे प्रथम बार दर्शन हुए थे। मैं उन दिनों अग्रवाल मिडिल स्कूल में पढ़ता था। मास्टर जी की समाज सेवा तथा विद्यार्थियों के प्रति प्रेमभाव के विषय में काफ़ी कुछ सुना। मैं अपने कुछ मित्रों के साथ जो कि मास्टर साहब के कृपापात्र थे उनकी लाइब्रेरी में दर्शनार्थ गया था। वह सरल एवं स्नेह की मूर्ति आज भी मेरे हृदय में ज्यों की त्यों अंकित है। मास्टर साहब के विषय में ज्यादा क्या कहा जाय वे एक श्रेष्ठ चरित्र निर्माता थे। उनके जीवन का हर क्षण हमारे लिये प्रेरणादायक एवं अनुकरणीय है। वे निःसन्देह एक महान् तपस्वी थे।

मेरे ऊपर सबसे ज्यादा कृपा थी

(श्री सूरजमल पाटनी)

मास्टर मोतीलालजी के साथ मेरा रहना करीब २० वर्ष तक रहा। तीसरी कक्षा से आठवीं कक्षा तक तो मैं स्कूल में पढ़ता ही रहा और उसके बाद भी मैं लगभग रोज उनसे मिलता रहा। मैं समझता हूँ मेरे ऊपर उन हजारों शिष्यों में से सबसे ज्यादा कृपा थी।

मास्टर साहब ने सन्मति पुस्तकालय जब से शुरू किया उससे पहले भी वे पुस्तकें पढ़ने के लिए दिया करते थे। उस समय अपने मकान पर ही पुस्तकें रखते थे। जो विद्यार्थी पुस्तक खरीदने में असमर्थ होते थे उन सबको पुस्तकें देने में वे भरसक प्रयत्न करते थे।

स्कूल के समय में जब पुस्तकों की वी. पी. पी. आजाती तो पुस्तकालय से रुपये लाने के लिये मुझे ही भेजते थे। किसी भी समय यदि रुपये कम हो जाते तो मुझे साथ लेकर वे जौहरी बाजार जाते। वे किसी भी दुकानदार से कुछ नहीं कहते थे परन्तु उनके बगैर कहे ही दुकानदार उनको रुपया दे देते। जब आवश्यकतानुसार रुपया हो जाता तो वे वापिस आ जाते।

मास्टर साहब चलती फिरती लाइब्रेरी थे। वे पुस्तकें घरों में देने जाते और वापिस भी लाते थे। कई दफ़ा उनको एक ही सज्जन के पास एक ही पुस्तक के लिये कई दफ़ा जाना पड़ता था। परन्तु इस बात से उनको जरा भी झुंझलाहट नहीं होती थी।

सरल, मधुर भाषी, निरभिमानी और उदार चरित

(श्री शिवशंकर शर्मा)

खादी का साफा, खादी का कुरता या कोट और खादी की ही धोती पहने हुये मास्टर साहब मोतीलालजी जब देखो अपनी लाइब्रेरी में तल्लीन नजर आते थे। उनके सामने विद्यार्थियों का झुंड बैठा मिलता। मैं तब महाराजा कॉलिज में बी० ए० की कक्षा में पढ़ता था। मैं भी लाइब्रेरी में नियमित रूप से जाने वालों में से था। लाइब्रेरी द्वारा तो मास्टर साहब की सेवा सबको मिलती ही थी, परन्तु इसके अलावा भी कोई विद्यार्थी ट्यूशन या अन्य तरह से सहायता चाहता था तो मास्टर साहब सदा तत्पर रहते थे।

अत्यन्त सरल, मधुर भाषी, निरभिमानी और उदार चरित मास्टर साहब से मिलते ही आगन्तुक मन्त्रमुग्ध हो जाता था। उनसे मिलने वाले विद्यार्थी तो उन्हें अपना सर्वस्व मानते थे।

मैं स्वर्गीय मास्टर साहब का अत्यन्त उपकृत हूँ।

वे सम्यक्ज्ञान का प्रचार करना चाहते थे

(श्री पं० हुकमचंद शास्त्री)

मास्टर साहब मोतीलालजी संघी ने देखा कि मानव समाज के पूर्वजों द्वारा उपार्जित ज्ञान की सुविधा का लाभ आज के भौतिकवादी मानव नहीं उठा रहे हैं। इस सन्दर्भ में उन्होंने सोचा और बार बार सोचा। अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हमारे पूर्वजों के अनुभव शास्त्रों (पुस्तकों) में संचित हैं, अतः सर्वप्रथम हमें शास्त्रों (पुस्तकों) का संचय करना चाहिये। उन्होंने अनुभव किया कि पुस्तकालय मात्र पुस्तकों के नहीं वरन् ज्ञान के आगार हैं। यही कारण था कि उन्होंने सन्मति पुस्तकालय की स्थापना की और उसके माध्यम से आजीवन सम्यक्ज्ञान (सन्मति) का प्रचार करते रहे।

प्रसन्नता की बात है कि उनका लगाया हुआ पौधा आज एक विशाल वृक्ष के रूप में परिणित होने जा रहा है। यही उनका सच्चा स्मारक होगा और हमारी उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि। पर उनकी आत्मा को शान्ति तब मिलेगी जब हम उक्त पुस्तकालय से लाभ लेकर सम्यक्ज्ञान (सन्मति) प्राप्त करें। उन्होंने इस पुस्तकालय का नाम 'सन्मति पुस्तकालय' बहुत सोच समझ कर रखा होगा। सन्मति नाम से प्रतीत होता है कि वे सम्यक्ज्ञान का प्रचार करना चाहते थे, तथा जीवनभर वे ऐसा करते भी रहे। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि उक्त पुस्तकालय में हम वीतरागता का पोषक सत्साहित्य का अधिकाधिक संग्रह करें। भोगोन्मुखी दृष्टि का प्रतिपादक साहित्य सत्साहित्य नहीं है, उसके प्रचार और प्रसार से आत्म शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

मेरे लिए गुरु का रूप

(श्री हरदेव दाउजी)

पं० मोतीलालजी शास्त्री और मास्टर मोतीलालजी—ये जयपुर की दोनों ही विभूतियां आज दिवंगत होचुकी हैं। पर इन दोनों की स्मृति मेरे मन में तो हमेशा रहती है। मास्टर मोतीलालजी के यहां मैं मोतीलालजी शास्त्री के साथ जाया करता था। उन्होंने मुझे अमरकोश और लघुकौमुदी दोनों ही पुस्तकें खरीद कर दी थीं। मेरी चित्रकला की प्रेक्टिस उन्हें पसन्द थी। मैंने उनका एक चित्र भी बनाया था। वे मुझे दादा कहा करते थे। मेरा यह नाम शायद उन्होंने भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री के मुख से सुना था। कभी २ वे मुझे 'दद्दजी' भी कह दिया करते थे। 'दद्द' नाम मेरा बचपन का है। मास्टर साहब बड़े गुणग्राही थे इसलिये वे मेरी उद्दण्डता को भी सहन कर लेते थे। मैं गरीब छात्र था और संस्कृत कॉलेज में पढ़ता था। एक बार उन्होंने मुझे किसी जैन बन्धु से ५) रुपये भी दिलवाये थे। मोतीलालजी शास्त्री मेरे सहपाठियों में से थे। पर मास्टर मोतीलालजी तो मेरे लिए गुरु रूप में ही थे क्योंकि वे मुझे पढ़ने की प्रेरणा दिया करते थे।

उनमें मनुष्यता कूटकूट कर भरी थी

(गोविन्द प्रसाद शास्त्री)

स्वर्गीय मोतीलालजी मेरे परममित्रों में से थे। उनका जीवन बड़ा सरल और वे शान्त प्रकृति के मानव थे। उनमें परोपकार की भावना अति-तीव्र थी। उनमें लालच लेशमात्र भी न था। वे अपनी संतति के समान ही अन्य की संतति को बड़े परिश्रम के साथ पढ़ाया करते थे और दरिद्र छात्र के लिए सहायता भी दिया करते थे। पाठ्य पुस्तकें देना तो उनके बाँये हाथ का खेल था। वे मिलनसार मानव थे और उनमें मनुष्यता कूट २ कर भरी हुई थी। उन्होंने अपने जीवन में एक सन्मति पुस्तकालय भी खोला था। उसमें सभी विषयों की पुस्तकें मौजूद हैं। उक्त मास्टर जी धार्मिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक पुस्तकें साधारण मानवों के और विद्वानों के घरों में स्वयं पहुंच कर पढ़ने के लिए दिया करते थे। वे कितनी ही बार मेरे यहाँ भी पुस्तकें पहुंचा दिया करते थे। उनमें विशेषता यह थी कि दी हुई पुस्तक समय पर लेने के लिये स्वयं आ जाया करते थे और दूसरी पुस्तक दे जाया करते थे।

कर्मवीर व्यक्ति

(श्री कल्याण शर्मा)

समाज सेवी होने के नाते मैं मोतीलाल जी को जान गया था। ये बहुत बड़े **कर्मवीर व्यक्ति थे**। इन्होंने जयपुर की जनता को अपने पुस्तकालय से अधिक से अधिक ज्ञान बांटा था। मैं भी इनके पास से २-३ पुस्तकें लाया था, कई महीनों बाद मैंने वे पुस्तकें वनस्थली से वापिस आकर जमा करा दी थीं। श्री मोतीलालजी को पुस्तकें बाँटने में बहुत दिलचस्पी थी। वे पुस्तकें खो जाने पर भी किसी से नाराज नहीं होते थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में हजारों लोगों की सेवा की।

अनुकरणीय व्यक्तित्व

(सुश्री सुशीलादेवी कासलीवाल)

विद्यार्थियों के नवनिर्माता मास्टर मोतीलालजी अपने समय के एक युगद्रष्टा, विद्यार्थियों के नवनिर्माता तथा कर्मठ भाग्य विधाता कहे जायं तो कोई अत्युक्ति न होगी।

सन्मति पुस्तकालय उनके लगन, समाज-सेवा, उत्साह, सहानुभूति, कर्त्तव्यपरायणता, नवीन प्रेरणा, एक नहीं विविध कार्य क्षेत्रों की विभिन्न प्रणालियों के अक्षय कोष के रूप में इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

अध्यापक ही नहीं जीवन के हर क्षेत्र में मार्गदर्शक

(श्री गंगासहाय पुरोहित)

मेरे लिये मास्टर साहब अध्यापक ही नहीं बल्कि जीवन के हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने में प्रयास करने के मार्ग दर्शक थे। स्कूल में, कॉलेज में, सरकारी सेवा में, पारिवारिक व्यवहार में तथा अन्य उलझनों के हल करने में मुझे उनसे दीक्षा मिली और वह शान्तिमय और प्रेमपूर्वक जीवन बिताने में बहुत बड़ा सहारा रही है।

जिन दिनों मेरा मास्टर साहब से परिचय हुआ तब मैं बच्चा ही था। मेरी अवस्था उस समय १४ वर्ष की थी। मैं उस वक्त सप्तम श्रेणी का छात्र था और वे अंक गणित एवं रेखा गणित पढ़ाया करते थे। उनकी शिक्षण पद्धति इतनी मनोवैज्ञानिक एवं उत्तम थी कि विद्यार्थी को घर पर जाकर काम करने की आवश्यकता ही नहीं होती थी। उनके शिक्षण देने के इस मनोवैज्ञानिक ढंग ने अंक गणित जैसे कठिन विषय को भी हमारे लिये सरस एवं सरल बना दिया था। यह सब शिक्षण पद्धति के कारण ही नहीं वरन् उनके पैतृक प्रेम एवं सम्भाल के कारण भी था। उनका प्रेम किसी व्यक्ति के प्रति ही हो ऐसा कभी नहीं होता था। उनका सभी के प्रति ऐसा प्यार था

कि हरेक विद्यार्थी इस वात का प्रयास करता था कि वह मास्टर साहव की उच्चता एवं भावनाओं को पा सके ।

विद्यार्थी जीवन की समाप्ति के वाद जव कभी मैं आदरणीय मास्टर साहव के पास जाता वे मुझे हमेशा नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा ही दिया करते थे और कह सकता हूं कि यदि मानव उन्हें अपने व्यावहारिक जीवन में काम में ले तो वह निश्चय ही जीवन की सफलता के उच्च स्तर पर पहुंच सकता है। आदरणीय मास्टर साहव की शिक्षायें इतनी हृदयस्पर्शी एवं तथ्य पूर्ण होती थी कि वे स्वयमेव ही जीवन के दिन-प्रतिदिन के आचरण में व्यवहारिक रूप से काम में आती थी । उनके इसी गुण एवं योग्यता ने मास्टर साहव के जीवन को एक विशेष सांचे में ढ़ाल दिया था ।

मास्टर साहव जैसी महान् शक्ति वड़ी मुश्किल से मानव जाति को उपलव्ध होती है । जयपुर की जनता के लिये तो उनका जीवन एक पुण्य पर्व ही था। यह हम सव का परम कर्त्तव्य है कि मास्टर साहव की दी हुई सम्पत्ति को आगे आने वाली पीढ़ी के उपकार के लिये उपयोग में लें और इस कर्त्तव्य का पालन उनकी स्थापित की हुई संस्था श्री सन्मति पुस्तकालय को पूर्ण योगदान तथा उसके संचालन में सहायता देने से कर सकते हैं ।

आदर्श जीवन

(श्री सागरमल बज)

यह वात करीवन सन् १९३७ की है, जव मास्टर साहव ने मुझे दरवार हाईस्कूल की तृतीय कक्षा में प्रवेश कराया। मैं अपने को वड़ा भाग्यशाली मानता हूं जो मुझे मास्टर साहव को नज़दीक से देखने और समझने का सुअवसर प्राप्त हुआ क्योंकि मास्टर साहव चौमू से पधार कर मृत्यु पर्यन्त हमारे मकान में ही रहे ।

मुझे मास्टर साहव सदैव जैन धर्म की शिक्षा देते रहते थे और गणित की पढ़ाई कराते थे। मास्टर साहव की हार्दिक इच्छा थी कि मैं किसी तरह मैट्रिक पास अवश्य करलूं । परन्तु मैं शुरू से ही हठग्राही था। पढ़ते-पढ़ते ही हठ सवार हो गई कि दसवीं कक्षा में वार्षिक परीक्षा में भी नहीं वैठा । मास्टर साहव ने मेरे लिये दो अध्यापक मना करने पर भी स्वयं

के खर्चे से लगाये परन्तु मैंने पढ़ना स्वीकार नहीं किया फलस्वरूप आज तक मैट्रिक पास नहीं कर सका।

मास्टर साहब जैसा सादा जीवन, उच्च विचार व परोपकार से परिपूर्ण व्यक्तित्व नज़र ही नहीं आता है। उनके जीवन में करुणा तो कूट-कूट कर भरी थी। वे बार-बार प्रेरणा देते रहते—बेटा! प्राणी को ख्याति, लाभ व पूजा पाने का लालच डुबो देता है, इसको हृदय के किसी भी कोने में जगह न देना और जीवन में यह बात सदैव याद रखना कि जीवमात्र का कल्याण हो और मेरे द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट न हो।

एक बात मुझे जीवनभर प्रेरणा देती रहेगी। मास्टर रूपचन्द जी चौकसी के सामने एक लकड़हारा छोटेखां रहता था। उसकी वृद्धावस्था थी, देखने और चलने से मजबूर हो चुका था। मास्टर साहब ने दोनों समय उसका भोजन पहुँचाने की ड्यूटी मेरी लगाई। एक बार मैंने प्रश्न किया कि बाबा साहब वह तो मुसलमान है, अभक्ष का सेवन करता है, उसको भोजन देने से क्या लाभ ? उत्तर पाया भैया, इसमें भी आत्मा वही है जो चींटी और हाथी में है। यह विचार-संकीर्णता है। तुम्हें सदैव प्रत्येक में समान आत्मा देखने का प्रयत्न करना चाहिये।

मानव पर उनका विश्वास कितना अटूट था !

(श्री विक्रमप्रसाद सूद)

मास्टर साहब श्री मोतीलालजी से मेरा सम्पर्क अधिक तो नहीं रहा परन्तु जो भी रहा उसकी स्मृति मेरे मानस पटल पर आज भी विद्यमान है। उनसे प्रथम साक्षात्कार सन्मति पुस्तकालय भवन में हुआ जब मैं उनसे कुछ पाठ्य पुस्तकें लेने गया था जिन्हें मैं खरीद नहीं सका था। मास्टर साहब सादा कपड़े में रूई का आत्मसुख व टोपा पहिने बैठे थे—मैंने ४-५ पुस्तकें पुस्तकालय से एक बार ही लेनी चाहीं—मास्टरजी ने बिना हिचकिचाहट, जमानत के तत्काल पुस्तकें मुझे देदी—जबकि मैं उनके लिये बिल्कुल अपरिचित था।

मानव पर उनका विश्वास कितना अटूट था! मैंने भी पुस्तकें जल्दी से जल्दी पढ़कर लौटाई और उनका विश्वास सम्पादन किया।

मास्टरजी मेरे जैसे कितने ही विद्यार्थियों की इस प्रकार पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। जिनके पास फ़ीस नहीं होती, फ़ीस की व्यवस्था करते थे। विशेषकर बिना किसी को बताए, जताए यहां तक कि विद्यार्थी को भी। मैं स्वयं अपने प्रारम्भिक सेवा काल में अध्यापक भी रहा हूं छात्र की मानसिक व्यथा का सहज ही अनुमान लगा सकता हूं कि पढ़ना चाहते हुए भी फ़ीस के अभाव में पढ़ने में कितनी कठिनाई होती है। **कितना बड़ा पुण्य कार्य करते थे राहत का, जीवन सुधार का।** मास्टर साहब का मृत्यु पर्यन्त यह क्रम बराबर रहा। **मर कर भी, आज तब ही तो वे अमर हैं।**

विवेक की ठेस

(श्री बी. एल. अजमेरा)

पिछले ४५ वर्षों के जीवनकाल में कितनी ही बार मास्टर मोतीलाल जी की स्मृतियां ताजा हो उठी हैं। मेरे बाबा स्व० श्री नेमीचन्दजी मथुरा-वाले और मास्टर साहब परम मित्र थे और बाल्यकाल में अनेक बार उन दोनों के बीच में बैठने का सुअवसर मुझे मिलता रहा।

मेरे बचपन में मास्टर साहब स्वयं मेरे मकान पर आकर लघु धार्मिक कथाओं की पुस्तकें दे जाया करते थे। पुस्तकें देते समय वे यह बताना नहीं भूलते थे कि अमुक पुस्तक का कौनसा पृष्ठ अथवा कौनसी पंक्ति विशेष रूप से मनन करने योग्य थी। बाल्यकाल में मैं बहुत ज्यादा लापरवाह था और न तो पुस्तकें पढ़ने की चिन्ता करता था और न ही सन्मति पुस्तकालय में समय पर पुस्तकें लौटाने की। कितनी ही बार पुस्तकें खो भी दी थीं। मास्टर साहब स्वयं मेरे मकान पर पधार कर पिछली बार दी हुई पुस्तकें लेते और नई पुस्तकें दे जाते। जाते-जाते धार्मिक प्रवृत्ति के साथ मधुर वचन बोलना-कभी नहीं भूलते थे। कभी-कभी जैन धर्म का प्रमुख सैद्धान्तिक 'णमोकार मन्त्र भी सुना जाते थे।

एक बार मास्टर साहब ने 'मेरी भावना' नामक पुस्तक मुझे दी और सलाह दी कि उसका मैं नित्य प्रातः पाठ किया करूं। कभी-कभी उस पुस्तिका को मैं पढ़ लिया करता और फिर असावधानी से इधर-उधर डाल

देता। एक बार मास्टर साहब ने पूछा, "बाबू, 'मेरी भावना' की कौनसी पंक्ति तुझे पसन्द आई।" जहां तक मुझे याद है, कुछ अजीब सा उत्तर मैंने दिया, "कुछ भी पसन्द नहीं आया, न कहानी, न किस्सा, उपदेशों से भी कहीं मन भरता है।" उन दिनों मैं चन्द्रकान्ता सन्तति के एक के बाद एक भाग बड़ी तेजी और मादकता के साथ पढ़ रहा था। किन्तु मास्टर साहब ने हार नहीं मानी, बोले, "तू ठीक ही कहता है। मेरी भावना की सारी पंक्तियों को रटने की क्या आवश्यकता है। किन्तु इस पुस्तिका की केवल दो प्रारम्भिक पंक्तियों को ही जीवनभर याद रखना। संभव है जीवन के रहस्यमय दरवाजे तेरे सामने खुलते चले जायें।" मुझे तनिक उत्सुक देखकर मास्टर साहब ने दो पंक्तियां बोलीं, "जिसने राग-द्वेष कामादिक जीते, सब जग जान लिया।" उस समय इन पंक्तियों का सुनना मेरे लिये मजाक मात्र था।

किन्तु जीवन के ४५ वर्ष के कालान्तर में राग-द्वेष और काम की लहरों पर जो जीवन-नौका चलती रही है, उसमें रह रह कर सब जग जान लेने की कसक भी जी उठती है। राग की अपनी ही एक दुनियां है किन्तु इसी में द्वेष की ज्वाला भी छिपी रहती है और राग की सीमायें खत्म होते ही द्वेष की सीमायें आरम्भ होजाती हैं। और काम, वह विश्व-नियन्ता वासना, किसकी शक्ति है कि उसको चुनौती दे और निर्लिप्त रह सके।

निरन्तर और निरन्तर, मास्टर साहब की स्मृति के साथ जुड़ जाती है—राग-द्वेष और काम की वह स्वप्निल मायानगरी, जिसकी निद्रा में मैं सो रहा हूं, कभी-कभी 'विवेक की ठेस' लगती है और मास्टर साहब सामने खड़े दिखते हैं, या मेरे मकान के आगे सन्मति पुस्तकालय की ओर सन्तवेष में एक पंक्ति खींचते से दिखते हैं। यदि मुझे अपने आपको अपने ही बन्धन से मुक्त करके विराट के दर्शन करने हैं तो राग-द्वेष और काम के इस महासागर में निर्लिप्त नौकानयन करना पड़ेगा। पता नहीं, कभी जग को जानने के दरवाजे खुलेंगे या नहीं ? खुले या न खुलें, मास्टर मोतीलालजी की स्मृति-रेखायें क्षितिज के उस पार तक खिंचती चली जायेंगी।

वे जाति, सम्प्रदाय, धर्म के दायरे से ऊपर थे

(श्री हरिकिशन)

प्रतिदिन कितने आदमियों से हमारा सम्पर्क होता है, कौन हमारे लिए क्या करता है व उसके प्रत्युपकार में हम कुछ कर पाते हैं या नहीं–यह बात वस्तुतः हम जानते हुए भी नहीं जानते से रहते हैं। प्रायः यह देखने में आता है कि कोई व्यक्ति यदि किसी के प्रति कोई कर्तव्य निभाता है तो तुरन्त ही उसकी चर्चा पत्रों में पढ़ने को मिल जाती है, किन्तु इसका अर्थ तो यह रहा कि वहाँ मानवता कर्तव्यपरायणता के रूप में न होकर दिखावे के रूप में अधिक है। इसके विपरीत कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो स्वयं का तनिक भी ध्यान न रख अपने आपको केवल दूसरों के लिए अर्पित करना अपना कर्तव्य समझते हैं। स्वर्गीय श्री मास्टर साहब मोतीलाल जी वास्तव में इसी प्रकार के व्यक्ति थे। यदि उन्हें व्यक्ति सम्बोधित न कर देव कोटि में रखा जावे तो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

मास्टर साहब सबके लिए समान रूप से कल्याण की भावना रखते थे। मैं स्वयं अब तक यह अनुभव करता था कि मुझसे वे पारिवारिक संबंधों के कारण अधिक स्नेह रखते थे। उनके जितने भी कृपा पात्र सज्जनों से जैसे २ मेरा सम्पर्क हुआ तब मैं जान पाया कि सभी मेरी धारणा के अनुरूप ही अनुभव किया करते थे। इसका निष्कर्ष यह रहा कि मास्टर साहब के हृदय में सबके लिए समान रूप से कल्याण की भावना रहती थी। वे जाति, समुदाय, देश तथा धर्म विशेष के संकुचित दायरों से ऊपर थे। प्राणी मात्र के लिए सेवा-भाव तथा कल्याण की कामना उनका उद्देश्य था तथा उसके लिए उनका प्रयास असाधारण व अद्वितीय था। वे क्षण भुलाये नहीं जाते कि वे जैसे ही किसी को आया देखते, एक छोटी सी पुस्तिका या किसी पत्र-पत्रिका का लेख पढ़ने को देते। दो तीन बार पढ़ने को कहते व फिर पूछते कि क्या समझ पाये। सही उत्तर पाकर सुख का अनुभव करते व तत्पश्चात् विशेष व विशद् रूप से उस बात को समझाते व फिर निश्चय करते कि जो कुछ कहा गया वह यथावत् समझ में आया या नहीं। अब जरा सोचिये, इस भौतिक व यान्त्रिक सदी में जहां लोग अपने जीवन को केवल स्वयंमेव ही समझते हैं व दूसरे का यदि ध्यान रखते हैं तो इस रूप में कि सम्भ्रम में डाल कर उससे स्वयं लाभ उठावें। ऐसे समय में मास्टर साहब जैसे मूक मानव-सेवी के लिए तो यही समझा

जावेगा कि ईश्वर ने उन्हें मानवता का साकार रूप दिया। हम सब उनके निर्देशन के अनुसार कार्य करें, यही उनकी आत्मा को शान्ति पहुंचाने का सबसे उत्तम तरीका है।

आदर्श शिक्षक

(श्री राजबिहारीलाल)

मास्टर मोतीलालजी संघी से मैं सन् १९१७ से १९२० तक पढ़ा। मास्टर साहब समय के बहुत पाबन्द थे एवं छुट्टियां भी कभी कभी वर्ष में एक दो दिन की ही लेते थे। वे सदा सादा व सज्जन वेश ही धारण करते थे। अगर कभी बहुत ही सर्दी पड़ी तो पगड़ी या टोपे के ऊपर ही गुलूबन्द लगा लेते थे। वे रास्ता भी धीरे धीरे तय करते थे और साथ ही साथ थैले में से निकाली हुई पुस्तक भी पढ़ते रहते।

जब हम लोग नौकर होगये थे तब श्री मास्टर साहब कुछ किताबें लेकर घर पहुंचते और दो-चार पुस्तकें उनके गुण बताकर हमें देते एवं आग्रह पूर्वक उन्हें पढ़ने की आज्ञा देते। वे सप्ताह-दो सप्ताह में उन पुस्तकों को ले जाते एवं नई पुस्तक छोड़ जाते। घर के बालकों से यदि कोई पुस्तक फट भी गई या अस्त व्यस्त हो गई तो उन्होंने उसके लिये जरा सा भी रोष कभी प्रकट नहीं किया।

मेरे ज्येष्ठ भ्राता मुंशी रसिक बिहारी लाल जी, जो नायब फौजदार थे, उर्दू और फारसी के जानने वाले थे, और हिन्दी का अभ्यास तो उन्हें नहीं के बराबर था लेकिन 'हुसने-अव्वल' नामक दर्शन शास्त्र की एक पुस्तक उनके हाथ पर रख कर मास्टर साहब ने मौलाना को पण्डित बना दिया।

मास्टर साहब मुझे हमेशा 'राजा' कहकर संबोधित करते थे। जब नगरपालिका जयपुर का प्रशासन-कार्य मेरे सुपुर्द हुआ तो उनका राजा कहना सत्य हुआ।

मास्टर साहब जाति-पांति व धर्म आदि के झगड़ों से ऊपर थे। उनके सब विद्यार्थियों को उनसे सदा समान व्यवहार मिलता था।

मास्टर जी की कुशल ट्रेनिंग ने ही हम लोगों में अनुशासन, बड़ों के प्रति श्रद्धा एवं समय का मूल्य समझने की भावना पैदा की।

वास्तव में मास्टर साहब का जीवन आदर्श शिक्षक का था।

सच्चे प्रेम और सेवा की मूर्ति

(श्री कपूरचन्द लुहाड़िया)

मेरा बचपन से पूज्य मास्टर साहब से संपर्क रहा। मैंने इनके पास कक्षा ४ से ८ तक अध्ययन किया। इस अध्ययन के पश्चात् भी मेरा उनसे संपर्क बराबर रहा। जब भी मैं उनसे मिलता तब ही मुझको कुछ उपदेश दिया करते थे—उनके उपदेशों का मेरे विचारों तथा जीवन पर भारी असर पड़ा। उनका सब विद्यार्थियों के साथ प्रेम व सेवा का व्यवहार रहता था। जिन विद्यार्थियों की पढ़ाई मास्टर साहब संतोषजनक नहीं समझते थे उनको आग्रह के साथ अपने घर पर निःशुल्क पढ़ाया करते थे। पढाई के अतिरिक्त विद्यार्थियों को पाठशाला में ही छुट्टी होने के बाद या घर पर धार्मिक व नैतिक शिक्षा दिया करते थे। प्रत्येक विद्यार्थी को गहन ज्ञान कराने का उनका प्रयत्न रहता था।

उन्होंने राज सेवा में रहते हुए ही सन्मति पुस्तकालय की स्थापना की। उस समय उनके पास वेतन के सिवाय कोई आर्थिक साधन नहीं था। इस सीमित साधन से ही उन्होंने पुस्तकालय का शनैः शनैः विस्तार करना प्रारंभ किया।

राज्य-सेवा से निवृत होने के पश्चात् उन्होंने अपना जीवन आत्म चिन्तन व मानव सेवा में ही लगा दिया। घर-घर जाकर धार्मिक व ज्ञानवर्धक किताबें देकर पढ़ने का आग्रह करना व विद्यार्थियों और निःस्सहाय परिवारों को आर्थिक व अन्य प्रकार की सहायता देना ही उनका मुख्य कर्त्तव्य था। वे एक सच्चे प्रेम व सेवा की मूर्ति थे।

उन्होंने चारों पुरुषार्थों को साकार रूप दिया

(श्री कबूलचन्द जैन)

स्वर्गीय मास्टर मोतीलाल संघी का जीवन एक आदर्श जीवन था। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को साकार रूप दिया, जबकि अधिकतर लोग अर्थ और काम के चक्कर में अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। मास्टर साहब ने अपने समय को अर्थ और काम के भंवर से निकाल कर दूसरों को बिना किसी भेद भाव के मार्ग दिखाया और घर जाकर पुस्तकें वितरण की तथा वापिस लेते तथा देते रहे। उन्होंने प्रेरणा देकर कौनसी पुस्तक उन्हें, पढनी चाहिए तथा वह किस पुस्तक के पढ़ने के योग्य हैं, इस बात को भली प्रकार जान कर जनता का अटूट उपकार किया। मैंने स्वयं सन्मति पुस्तकालय से अनेक पुस्तकें प्राप्त करके पढी हैं, जिनके द्वारा मुझे बहुत लाभ हुआ। किन्तु सर्व साधारण लोग बिना किसी मार्गदर्शक के इन पुस्तकों के समुद्र में से चन्द पुस्तकें छांटकर तथा पढकर पूर्ण लाभ नहीं उठा सकते हैं। इसे समझ पाना अति कठिन है।

गरीब विद्यार्थियों की मदद की

(श्री सूरजनारायण सेठी वकील)

संघी मोतीलालजी डिग्री याफ्ता नहीं थे, वे सिर्फ मेट्रिक पास थे। मगर गणित में खूब प्रवीण थे। मैट्रिक तक के विद्यार्थियों में जो कमी गणित में होती थी उसे वे पूरी करा देते थे। वे गरीबी भोगे हुए विद्यार्थी थे अतः गरीबी की मुसीबतों को जानते थे, इसलिए गरीबी लड़कों को एक घन्टे तक पढ़ाकर सिर्फ १०) रु० माहवार ट्यूशन का लेते थे।

इनके सिर्फ एक लड़का व एक लड़की थी। इनकी धर्मपत्नि बहुत जल्दी मर गई थी। लड़की का ब्याह मा. नानूलालजी के भतीजे से किया था। इनकी लड़की भी जल्दी मर गई थी। इसके पश्चात् इनके दामाद ने दूसरा विवाह नहीं किया। वे जयपुर से जाने के पश्चात् गांधीजी की पार्टी में शामिल हो गये व सारी उम्र गान्धी जी के साथ रहे।

उनके विचार बड़े शुद्ध थे। वे थोड़े खर्च में अपना जीवन व्यतीत करने के आदी थे।

सर्दी से उनके कानों को ठंड बहुत लगती थी। इसलिए पगड़ी पर ऊनी गुलूबन्द बान्धकर वे रात तक ट्यूशनों पर जाया करते थे। और एक सप्ताह तक जो नींद में कमी रह जाती उसको रविवार को दिन में सोकर पूरा किया करते थे।

मास्टर साहब बहुत दयालु थे। वे गरीब विद्यार्थियों की हर तरह की मदद रुपये आदि व पुस्तकों से देना अपना कर्त्तव्य समझते थे।

विद्यार्थियों को पुस्तकों की मदद देने के सिलसिले में उन्होंने श्री सन्मति पुस्तकालय की नींव डाली थी। पास हुए विद्यार्थियों से उनकी पढ़ी हुई पुस्तकें ले लेना और उनको स्टॉक के रूप में पुस्तकालय में जमा करना और जो विद्यार्थी पुस्तकें खरीदने में असमर्थ होते, उन्हें पढ़ने के लिये दे देना और पढ़ाई समाप्त होने पर उनसे वापिस ले लेना और दूसरों को दे देना और इसी रूप में यह पुस्तकालय शुरू में स्थापित किया गया था।

गरीब विद्यार्थियों में जिनके पास परीक्षा की फीस देने के लिये नहीं होती थी उनको फीस के लिए स्वयं या किसी के द्वारा सहायता करते थे।

मास्टर साहब बड़े विद्या प्रेमी थे।

दिगम्बर जैनियों में सन् १९०६ के बाद १९२९ तक कोई B. A. नहीं हुआ, इसका उस समय विद्या प्रेमियों को काफी दुःख हुआ।

श्री मालीलाल जी दीवान, श्री अर्जुनलालजी सेठी व स्वयं मैंने विद्या के प्रसार के लिये काफी प्रयत्न किये।

मास्टर साहब में सच्चाई थी। बनावट जरा भी न थी। वे घर पर सिर्फ खाना खाने के लिये आते थे, बाकी समय पुस्तकालय में ही व्यतीत करते थे एवं दरी बिछाते थे और सर्दी में एक लिहाफ ओढते थे। सादा खाना खाते थे। दूध जरूर पीते थे। सादा वस्त्र धारण करते थे। उनकी तबीयत का झुकाव वैराग्य की ओर था। धर्म की पुस्तकें छपवाने व उनका प्रचार करने में भी काफी मदद देते थे।

सर्वार्थ सिद्धि छपवाने में उन्होंने बहुत मदद दी थी।

बाबू जुगल किशोर मुखतार ने जो मेरी भावना पुस्तक लिखकर छपवाई उसकी सैकड़ों प्रतियां लोगों में वितरित कीं। यह पुस्तक उन्होंने ठाकुर साहब चौमू को भी भेंट की। उन्होंने इससे प्रभावित होकर करीब ४००

प्रतियां खरीद कर अपने यहां वितरित कराईं और यह घोषणा की कि जो व्यक्ति पहिले याद करके मुझे सुनायेगा उसे ५) रु० इनाम दिया जायेगा।

मास्टर साहब ने कई भजन भी याद कर रखे थे। आत्मा में शक्ति कायम रखने के लिये उन भजनों को भी कभी कभी बोलकर अपनी आत्मा को शांत बनाते थे।

सन्मति पुस्तकालय को स्थापित करने के बाद वे पुस्तकों का एक गट्ठा बनाकर घर-घर जाते और लोगों के दिल में किताब पढ़ने का शौक लगाने के लिए किताबें बाँटते तथा पढ़ने के बाद वापिस ले आते थे तथा उनसे पढ़े हुए के बारे में जानकारी प्राप्त करते।

सन्मति पुस्तकालय के लिये पुस्तकों को एकत्रित करने के लिए मास्टर साहब ने आम समाज से चन्दा एकत्रित किया था। इस कार्य में मैं भी उनके साथ रहता था।

मास्टर साहब स्वयं समाज के कार्य करते थे तथा दूसरों से भी करवाते थे। मुंशी प्यारेलालजी को सामाजिक कार्यों में सहायता देने का शौक भी उन्होंने दिलाया था।

मास्टर साहब जिस किसी बड़े व्यक्ति के पास जाते थे तो मुझे भी वे साथ ले जाते थे। इसलिए मुझे उनके हरएक काम की जानकारी है।

चाकसू के चौक में पुस्तकालय के सम्बन्ध में बात यह है कि श्री कपूर चन्दजी काठ ने मास्टर साहब से पुस्तकालय भवन ले लिया था। उस समय इस पर मास्टर साहब को काफी दुःख हुआ था।

आदर्श मुनि

(डा० गिरधरलाल अजमेरा)

जयपुर नगर के शिक्षित समुदाय का किसी वर्ग व धर्म का कोई विरला ही व्यक्ति ऐसा होगा जो स्वर्गीय मास्टर साहब को न जानता हो। इस महान आत्मा के परोपकार, उदार हृदय, शिक्षा प्रसार-प्रेम को सभी जानते हैं।

मेरा सम्पर्क मास्टर साहब से १३ साल उम्र से था। मैं उस समय छठी कक्षा में पढ़ता था। मास्टर साहब ने मुझे पुस्तकालय में बुलाना शुरू किया और जब कभी मैं नहीं जाता तो मेरे पिताजी के पास पत्र लिखा दिया करते थे। वैसे तो उनकी हर बात नसीहत से भरी थी मगर दो-चार बातों का असर मुझ पर जिन्दगी भर पड़ा।

दुनियां में सुखी कौन?

एक बार हम चार-पांच बच्चे इनके पास बैठे थे। मास्टर साहब ने हमसे पूछा–बेटा! बताओ दुनिया में सुखी कौन? किसी ने कुछ कहा किसी ने कुछ। उन्होंने फरमाया कि दुनिया में सुखी वही है जो मोटा खाये, मोटा पहने। उन्होंने एक दृष्टान्त दिया कि उनके एक मुस्लिम मित्र थे। वे रेल्वे में बुकिंग क्लर्क थे। तनख्वाह २५) माहवार थी। घर में वे थे उनकी स्त्री थी और दो बच्चे थे। उनकी स्त्री खुद अपने हाथ से पीसती थी, खाना बनाती थी, बर्तन मांजती थी। ४ प्राणी इस २५) में बहुत सुखी थे। धीरे २ इनकी तरक्की होती गई और आखिर में स्टेशन मास्टर बन गए। उस जमाने में स्टेशन मास्टर को १५०) मिलते थे। रिश्वत के तौर पर हजार पांचसौ माहवार और आने लगे। जैसे २ तरक्की होती गई उन्होंने अनाब शनाब खर्चे बढ़ा लिए। बंगला, घोड़ा-गाड़ी, नौकर और बच्चों के लिए अलहदा गाड़ी वगैरह होगये। उस जमाने में करीब १५००) माहवार का खर्च बढ़ा लिया। शराब पीने की भी आदत होगई। ऐशो आराम में जिन्दगी काटने लगे। यकायक उन पर रिश्वत का मुकद्दमा कायम होगया। सस्पैंण्ड कर दिए गए और ६ महीने के बाद वे मुकदमा जीत गए मगर पेन्शन होगई। पेन्शन ७५) माहवार की हुई। पूरी जिन्दगी बड़े दुख से कटी। एक लड़का भी मर गया। लड़की आवारा हो कर किसी के साथ भाग गई। रह गए दो मियां बीबी। कर्जदार होकर दुःख की

जिन्दगी पूरी करके इस संसार से चल बसे। मास्टर साहब फरमाते थे कि जो ४ जीव २५) माहवार में मोटा पहन कर, मोटा खाकर सुखी थे, वे ऐशो इशरत के चक्कर में आकर बहुत दुखी होकर मरे।

सबसे ज्यादा कीमती चीज क्या है ?

हम से मास्टर साहब ने पूछा—बेटा, दुनियां में सबसे ज्यादा कीमती चीज क्या है ? किसी ने कुछ बताया किसी ने कुछ। मास्टर साहब ने फ़रमाया सबसे ज्यादा कीमती चीज दुनिया में वक्त है। गया हुआ एक मिनट भी फिर इस जिन्दगी में वापस नहीं आता। इस वास्ते एक एक पल मनुष्य को सही उपयोग में लगाना चाहिए और मेहनत की आदत डालनी चाहिए।

मनसा पाप

हम बच्चे लोग सब मिल कर एक दूसरे की बुराई किया करते थे। एक रोज मास्टर साहब ने सुन लिया, बहुत जरूरी काम जा रहे थे मगर करीब आधा घण्टा रुक कर हमको नसीहत की बात सिखाते रहे। असल मकसद मास्टर साहब का यह था कि किसी मनुष्य के प्रति तुम खराब विचार करोगे उसी वक्त मनसा पाप का कर्म तुम पर बन्ध जावेगा। खराब विचार करने से दूसरे मनुष्य का कुछ नहीं बिगाड़ सकते तो पाप कर्म भी क्यों बांधते हो ? मनसा पाप सबसे बड़ा पाप है।

महामना सिद्ध पुरुष

(बसन्तलाल मुकीम)

सन्मति पुस्तकालय कहें या मास्टरजी निर्जीव व सजीव एक ही रूप था कहा जाता है एकान्त की साधना साधक को सिद्धि के लिए चाहिए आत्म कल्याण के हेतु। लेकिन मास्टर साहब की साधना जनता के बीच चली, साधक के रूप में। पर कल्याण हेतु और सिद्धियां इस योगी के चरणों में सदैव लोटती रहीं। जनहित की कामनाओं में कैसा समन्वय था, कैसा था यह योग! कैसी थी यह साधना! कैसी यह तपस्या इस महर्षि की! जो अपने में एक ज्वलन्त उदाहरण है !

जयपुर नगर को धर्म-तीर्थ बना कर स्वयं धर्म–तीर्थ के स्थापक बन गये। इस महात्मा के लिए हिमालय की कन्दरा में, नदी तालाबों के तट, घने वन-उपवन, सिद्धक्षेत्र, आश्रम आदि साधना का क्षेत्र, बड़ा मन्दिर था या वे शिक्षण संस्थाएं थी जहां वे ज्ञान दान देते थे।

मैंने दरबार हाई स्कूल में अपने शिक्षण-काल में उन्हें निकट से देखा। मैंने पाया उन्हें अपनी धुन में रमते हुए।

धूनी रमाने वाले साधु-सन्यासी आग जला कर ताप सहते हैं। किन्तु उनकी धूनी धुआं रहित अगोचर थी जिसमें आग बैठते-उठते, चलते–फिरते थी वे चौबीसों घन्टे लोककल्याण का महामन्त्र जपते हुए साधना रत रहते थे।

अपनी सीधी सादी वेषभूषा में यह निष्काम महान तपस्वी, आचार्य, उपाध्याय, लोक वन्दनीय है क्योंकि उस महापुरुष ने अपने तन, मन और कर्म को किसी जाति विशेष व धर्म विशेष से नहीं जोड़ा। वह सर्व धर्म, सर्व जाति, स्वरूप थे।

जैन धर्म के अनुयायी होने के नाते इन्होंने अपने जीवन दर्शन से बताया कि जैन धर्म किसी एक वर्ग से बंधा नहीं है। यह विश्वधर्म है। पंच-परमेष्टी नमस्कारमन्त्र में किसी विशेष की वन्दना नहीं की है। यह वन्दना सारे विश्व में निहित उस रूप को है जो जहां है।

मास्टर साहब का जीवन एक महान वैज्ञानिक के रूप में है जिसने अगोचर को गोचर बनाया अपनी साधना से। मास्टर साहब की आत्मा जो आज अगोचर है, नित्य है, प्रेरणादायक है, वन्दनीय है।

समाज के कुशल वैद्य

(श्री सन्तोष चन्द्र)

स्व० मास्टर साहब मोतीलाल जी 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्शरूप मूर्तिमान महापुरुष थे। उनका जीवन वास्तव में परोपकार के लिये ही था। उन्होंने अपने जीवन में हजारों विद्यार्थियों एवं सैंकड़ों अनाथ महिलाओं व बच्चों को गुप्त रूप से स्वयं सहायता पहुंचाने व अन्य धनी-मानी प्रतिष्ठित व्यक्तियों को प्रेरणा देकर मदद पहुंचाने के रूप में दोहरे परोपकार का कार्य किया। उनका जीवन ही उनके संपर्क में आने वाले व्यक्तियों को स्वाभाविक रूप से प्रेरणा देने वाला था। उन्होंने अपने जीवन में सबसे महत्वपूर्ण कार्य *सन्मति-पुस्तकालय जैसी महान संस्था को जन्म देने का किया,* जिसके द्वारा अनेक पीढ़ियों तक लाखों व्यक्तियों को सम्यक ज्ञान प्राप्ति का मार्ग मिलता रहेगा, उन्होंने पुस्तकालय में सभी प्रकार के साहित्य का संग्रह किया, लेकिन पाठकों को उनकी योग्यतानुसार पुस्तकें देने का वे विशेष ध्यान रखते थे। जैसे एक कुशल वैद्य अपने औषधालय में सभी प्रकार की औषधियों को रखते हुये भी रोगियों की अवस्था व योग्यता को ध्यान में रख कर ही दवा देता है, उसी प्रकार वे भी छोटे २ बच्चे, युवकों, वृद्धों व महिलाओं को उनकी योग्यता-नुसार साहित्य देकर धार्मिक संस्कार डाल कर धर्म रुचि प्रगट करने का तथा अश्लील साहित्य व उपन्यासों के द्वारा नैतिक पतन न होने देने का विशेष ध्यान रखते थे। विद्यार्थियों की सहायता का तो वे विशेषकर ख्याल रखते थे। चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का हो अथवा किसी भी धर्म को मानने वाला हो। उनमें अनुकम्पा का भाव भी उच्च कोटि का था, किसी भी दीन दुःखी प्राणी को देखकर उनका हृदय दया से आर्द्र हो जाता था तथा जब तक वे उसके कष्ट को दूर नहीं कर देते तब तक उनको चैन नहीं पड़ता था।

ब्रह्मचर्य ही जीवन है

(श्री घीसीलाल)

मेरी शादी १२ साल खतम होते ही गई थी। शादी के २-३ साल बाद ही मैं कुसंगति में पड़ गया। सन १६२० में स्वर्गीय श्री मांगीलालजी बोहरा दूदू निवासी ने १५-२० प्रतिष्ठित सज्जनों के समक्ष मेरे सामने ही मेरी बुरी संगति की निन्दा की। मुझे क्षण भर क्रोध आया और वहीं बैठे-बैठे तुरंत मेरे कुकर्मों का दृश्य मेरे सामने आया। यह भी ख्याल आया कि आज तो उन्होंने ही कहा है, अब आगे अगर यही हालत रही तो दुनियां थूकेगी। वहां से मैं घर आया, रात को बड़ी देर तक नींद नहीं आई और उसी रात मैंने प्रण कर लिया कि फिर ऐसी संगत नहीं करूंगा और उसके दूसरे ही दिन मैं चौधरी कानूनगो के सरकारी काम को करने के लिए अग्रसर हुआ और मैं उस काम में कुछ अंशों में सफल भी हुआ। जबसे सेटिलमेंट डिपार्टमेंट का नया महकमा जयपुर राज्य में खुला तो पिताजी से यह सुनकर कि अब चौधरी कानूनगो की राज्य सेवा नहीं रहेगी इसलिए सेटिलमेंट डिपार्टमेंट जाकर वहां का काम सीखना चाहिए, मैंने काम सीखकर उस विभाग में नौकरी करली तव मैं जयपुर में ज्यादा रहा। उस जमाने में मेरा यह ख्याल कि अगरचे पराई स्त्री के त्याग का नियम तो ले चुका हूं मगर मेरी नजर औरतों के सौन्दर्य को देखना नहीं छोड़ती, इसका इलाज मास्टर साहव से पूछूं। मैंने मास्टर साहव की सेवा में उपस्थित होकर मेरे मन की वात स्पष्ट निवेदन करदी और उपाय पूछा। मास्टर साहव ने मुझको एक किताव (ब्रह्मचर्य ही जीवन है, वीर्यनाश ही मृत्यु है) दी और आज्ञा दी कि आज ही इसको वहुत ध्यान से पढ़ोगे तो तुम्हें इसका उपाय मिल जाएगा। इसमें एक जगह कथन है कि जव तुम्हारे सामने से कोई स्त्री निकले तो उसको देखो मत और मां का स्मरण करने लगो। फिर कभी तुम्हारे मन में विकार नहीं रहेगा। इस कथन का मेरे मन पर वड़ा प्रभाव पड़ा और मैं अपनी जिन्दगी में इस वीमारी का इलाज इसी तरह करता रहा—यह मास्टर साहव की असीम अनुकम्पा का फल है।

एक वार मैं श्री चिमनलालजी वोहरा, तहसीलदार के साथ जलेवी चौक महकमा दीवानी से चलकर वाजार में आया। जौहरी वाजार में चौपड़ के पास एक नीम का दरख्त था उसके नीचे तहसीलदार साहव

की मास्टर साहब से भेंट हुई। कुशल क्षेम पूछने के बाद मास्टर साहब ने तहसीलदार साहब से पूछा—स्वाध्याय किस ग्रन्थ की करते हैं? तहसीलदार साहब ने जवाब दिया मालपुरा में रहता हूं तब तो शास्त्र-स्वाध्याय कर लेता हूं, बाहर दौरे में कोई साधन नहीं है। मास्टर साहब ने कहा मैं आपके पास किताबें पहुंचा दूंगा। उनको आप दौरे में साथ ले जावें और ज्ञान वृद्धि करें। उस पर तहसीलदार साहब ने कहा मैं खुद ही आकर किताबें ले जाऊंगा। इतनी बात के बाद दोनों ही अपने अपने काम की तरफ चले गए। शाम को मैं तहसीलदार साहब के साथ ही भोजन कर रहा था कि ३–४ किताबें लेकर मास्टर साहब तहसीलदार साहब के मकान पर पहुंचे। हवेली के चौक में खड़े होकर मास्टर साहब ने आवाज दी। मैंने उठकर चौक में देखा तो मास्टर साहब किताबें लिए खड़े थे। मैंने तहसीलदार साहब को यह बात अर्ज की तो तहसीलदार साहब के मन में इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उनकी आंखों में आंसू आगए और बोले मास्टर साहब को किस तरह इन्सान बनाने का ध्यान है इनको समाज सेवा और ज्ञान दान का कितना ख्याल है!

मैं अक्सर सन्मति पुस्तकालय से मास्टर साहब से किताबें ले जाया करता था उनमें एक किताब मुझसे गुम हो गई। मैंने मास्टर साहब से निवेदन किया। मास्टर साहब ने कहा कोई बात नहीं। मैंने कहा मास्टर साहब कीमत मैं देना चाहता हूं, क्या दूं? उन्होंने फरमाया कि इसकी क्या जरूरत है? जब मैंने ज्यादा अनुरोध किया तो एक किताब निकाली और तुरंत ही १.२५ रु० उस किताब की कीमत मुझे बताई। मैंने यह रकम जमा करा दी।

विद्यार्थियों के सच्चे संरक्षक

(श्री कमलाकर 'कमल')

सन्मति पुस्तकालय के संस्थापक एवं संचालक मास्टर मोतीलालजी उन कर्मठ महापुरुषों में थे जिन्होंने आजीवन बिना किसी भेदभाव के जयपुर की जिज्ञासु जनता की लगन के साथ सेवा की थी। मैं जब हिन्दी 'एडवाँस' की कक्षा लेता था तब इस परीक्षा के अधिकांश विद्यार्थी मास्टर साहब के पास से नि:शुल्क पुस्तकें लाया करते थे। उनमें कितने ही विद्यार्थी तो ऐसे थे जो वर्षों से सन्मति पुस्तकालय की पुस्तकें लिये हुए थे। परन्तु उन विद्यार्थियों के प्रति मास्टर साहब को कोई भी शिकायत नहीं थी। मुझे याद है

जब मैं १६४० में एक विद्यार्थी को लेकर मास्टर साहब के पास गया तो उन्होंने उस विद्यार्थी से तुरन्त कहा कि "मोहनलाल तुमको यदि और किसी पुस्तक की आवश्यकता हो तो, लेजाओ और दो साल पहिले जो 'प्रियप्रवास' ले गये थे, वह पढ़ने के बाद लौटा देना।" मोहनलाल ने यह सोच लिया था कि मास्टर साहब मुझसे अब अपरिचित हो गये होंगे। लेकिन ज्योंही मोहनलाल ने अपना और पुस्तक का नाम सुना त्योंही वह लज्जित सा हो गया था। उसी समय उसने मास्टर साहब से क्षमा मांगी और दूसरे दिन वह 'प्रियप्रवास' मास्टर साहब को दे आया।

[२]

गोविन्दनारायण नामक विद्यार्थी से 'साकेत' महाकाव्य खो गया था। उसने मेरे साथ आकर मास्टर साहब से कहा कि 'साकेत' खो गया है। इस पर उन्होंने कहा भाई! खो नहीं गया है। तुम्हारे साथी हरिनारायण के पास है, जब वह पढ़ लेगा तब जमा करा देगा। तुम्हें और कोई पुस्तक चाहिये क्या? गोविन्दनारायण को हरिनारायण के पास ही वह पुस्तक मिली क्योंकि उसीने उसे वह पुस्तक पढ़ने को दी थी पर वह भूल गया था। हरिनारायण और गोविन्दनारायण दोनों मेरे विद्यार्थी थे तथा साहित्यरत्न के प्रथम खण्ड में पढ़ते थे।

[३]

'भारतेन्दु का हरिश्चन्द्र नाटक' किसी विद्यार्थी से खोगया था। वह मास्टर साहब से कह रहा था कि मास्टर साहब! आप कहें तो दूसरा लादूं। इस पर उन्होंने उस विद्यार्थी से कहा—मैं ही दूसरा मंगवा लूंगा। जब वह मिल जावे यहां जमा करा देना। यह मेरे सामने की बात है।

[४]

एक बार मुझे पद्माकर कविकृत 'जगद्विनोद' की आवश्यकता पड़ी थी। मैं उसके लिये सन्मति पुस्तकालय में ज्योंही पहुंचा त्योंही मास्टर साहब ने मुझसे कहा कि आपके पास जो १७ विद्यार्थी हिन्दी एडवांस में पढ़ते हैं उनमें से तीन विद्यार्थियों के पास "एडवांस" का कोर्स नहीं है, आप उनको मेरे पास भेज देना। मैं एक कोर्स की व्यवस्था कर दूंगा। पता नहीं मास्टर साहब को मेरे पास आने वाले १७ विद्यार्थियों की सूचना किसने दी थी।

हजारों नहीं लाखों में एक

(श्री राधेश्याम अग्रवाल)

मास्टर मोतीलालजी संघी अपने समय के श्रेष्ठ व्यक्तियों में थे। उनका जीवन सादा व आचरण उच्चकोटि का था। वे मनुष्य मात्र की बिना किसी भेद-भाव के सेवारत रहते थे। विद्यार्थी उनको बहुत प्रिय थे। वे देश के भावी नागरिक होने के नाते उन पर अधिक स्नेह रखते थे, उनकी तरह २ से मदद करते थे। वे हरएक को सदमार्ग पर चलने की प्रेरणा देते रहते थे। ऐसे मनुष्य हजारों में नहीं लाखों में कोई एक होता है।

दया और करुणा की साक्षात प्रतिमा थे

(श्री विजय चन्द्र जैन)

श्रद्धेय मास्टर मोतीलालजी वास्तव में महान् व्यक्ति थे। उन्होंने अपना सारा जीवन जनता की निस्वार्थ सेवा में लगा दिया। वे कुशल अध्यापक भी थे। अध्यापन से उनको जो कुछ मिलता था उसमें से अपने जीवन निर्वाह के लिये कुछ हिस्सा रखकर शेष रकम वे गरीबों की सहायता में लगा देते थे। इतना ही नहीं निस्सहाय विद्यार्थियों और विधवाओं की सहायता के लिये वे सामर्थ्यवान लोगों से चन्दा इकट्ठा करते थे। विद्यार्थियों के लिये पुस्तकें खरीदते थे, उनकी फीस जमा कराते थे। विधवाओं के लिये वे स्वयं बाजार से अनाज खरीदकर उनके घर पर पहुंचाते थे और भी अनेक प्रकार से वे गरीबों की मदद करते थे। जातिवाद की भावना से वे बिल्कुल परे थे, सभी जाति और समाज के लोगों की वे समान रूप से सहायता करते थे।

दया और करुणा की वे साक्षात् प्रतिमा थे। उनका हृदय अत्यन्त कोमल था। किन्तु अनुशासन पालन में वे अत्यन्त कठोर थे और छात्रों पर उनके अनुशासन की बड़ी छाप थी—इसी के परिणामस्वरूप जिन कक्षाओं को वे पढ़ाते थे उनके विद्यार्थी बहुत अच्छे अंकों से पास हुआ करते थे। उनमें से अनेक आज ऊंचे पदों पर आसीन हैं। उनमें से प्रत्येक यह अनुभव

करता है कि उसके उत्थान में मास्टर साहब का बहुत बड़ा हाथ रहा है। मैंने अपने विद्यार्थी काल के कई वर्ष मास्टर साहब के चरणों में बिताये। स्कूल के अलावा मेरा काफ़ी समय उनके पास लाईब्रेरी में ही गुजरा करता था। मेरे पिताजी ने मेरी पढ़ाई की सारी देखरेख मास्टर साहब पर ही छोड़ रखी थी। घर पर मैं नहीं पढ़ता था अतः वे मुझे लाईब्रेरी में बुलवाते थे और वहीं उन्होंने मेरे लिए अध्यापक का प्रबन्ध कर दिया था। अतः मेरा बहुत समय मास्टर साहब के पास गुजरा था। मैंने नजदीक से उनकी सभी प्रवृत्तियों को देखा है। अकेला व्यक्ति जिसमें निष्ठा और लगन हो वह कितना बड़ा रचनात्मक कार्य कर सकता है, इसका मास्टर साहब से अच्छा कोई उदाहरण नहीं मिल सकता।

वे अत्यन्त सादा जीवन व्यतीत करते थे। उनका लिबास अत्यन्त सादा था और वे सदैव मोटी खादी ही पहिनते थे। वे निरहंकारी थे और अहिंसा के पूर्णतया पालन करने वाले थे। धर्म में उनकी पूरी श्रद्धा थी और उनका आचरण अत्यन्त शुद्ध और निष्कलंक था। उनकी निश्चित दिनचर्या थी। प्रातःकाल बहुत जल्दी उठकर नित्यक्रम से निवृत्त होकर वे सेवाकार्य में रत हो जाते थे। स्कूल के अलावा उनका सारा समय जन सेवा में ही बीतता था। घर पर केवल नित्यकर्म से निवृत्त होने व भोजन करने के लिए जाते थे—बाकी समय वे लाईब्रेरी में ही रहते थे और बहुत अर्से तक वे वहीं सोते भी थे। वे नियमित स्वाध्याय करते थे और भजन-कीर्तन में उनकी बहुत रुचि थी। चलते फिरते वे मन ही मन भजन गाया करते थे और भजनों की कापी सदा उनके साथ ही रहती थी। रास्ते में जो भी मिल जाता था उससे भी वे यही पूछा करते थे कि वह अपनी आत्मा के उत्थान के लिए क्या करता है? क्या वह केवल धन कमाने में ही लगा है? या यह मनुष्य जीवन जो उसने पाया है उसको सार्थक करने के लिए भी वह कुछ करता है। वे सबको अपनी आत्मा के उत्थान के लिये सतत् प्रेरणा देते रहते थे। पुस्तकालय के माध्यम से उन्होंने जनता की महान् सेवा की। अच्छी पुस्तकों की कई २ प्रतियां वे ख़रीदते थे और घरों पर जाकर लोगों को किताबें पढ़ने के लिये देते थे। वास्तव में मास्टर साहब अपने आप में एक संस्था बन गये थे। गृहस्थ में रहकर भी सच्चे अर्थ में साधु थे और उनके जीवन से हमें बहुत बड़ा सबक मिलता है।

वे सत्प्रेरणादायक थे

(श्री मालचन्द जैन)

प्रातः स्मरणीय मास्टर साहब से मेरा परिचय १६४४ में प्रथम बार हुआ। यद्यपि मैं उनका शिष्य नही रहा पर उनकी सद्प्रेरणा मुझे सदा मिलती रही। उनका त्यागमय जीवन, पुस्तकालय के माध्यम से जनता की मूक सेवा, सादगी, उच्चविचार, धार्मिक आस्था आदि ऐसी बातें उनमें थीं जिससे कोई भी व्यक्ति जो उनके संपर्क में आया प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। वे प्रायः सेठ बैजनाथजी सरावगी के पास आया-जाया करते थे और वहीं उनसे भेंट होती रहती थी। वे पुस्तकें स्वयं दे जाते और लेने के लिए भी आते। उस समय यह भी पूछते कि इस पुस्तक में क्या पढ़ा—इससे तुमने क्या शिक्षा ली? अतः हर व्यक्ति पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़ता था। वे जब भी मिलते अपने अनुभव सुनाते हुए ऐसी शिक्षाप्रद बातें कहते जो जीवन-निर्माण में सहायक होती। जब वे भजन गाते तो उसमें तन्मय हो जाते थे। जैसे कोई सन्त मस्त हो रहा है। वे गृहस्थी होते हुए भी वैरागी के समान थे। पुस्तकालय मास्टर साहब का कार्यक्षेत्र था—पर मैं ऐसे अनेक छात्रों को जानता हूं जिन्हें मास्टर साहब ने संबल देकर खड़ा किया है। सचमुच वे देवता थे।

संप्रदायातीत मास्टर साहब

(श्री बंशीधर शास्त्री एम. ए.)

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारतवर्ष में क्रांति का ऐसा दौर आया था जिसमें न केवल भारतीय स्वतंत्रता की भावना जागृत हुई अपितु उस समय के युवकों में निस्वार्थ सेवा वृत्ति का भी विकास हुआ। उन युवकों में अपने २ ढंग से समाज सेवा एवं राष्ट्र सेवा की भावना घर करने लगी थी। उस भावना से अनेक कार्यकर्त्ता बने जिन्होने कभी अधिकार एवं यश की कामना नहीं की थी अपितु वे केवल सेवा एवं समाज जागृति में ही लगे रहे।

ऐसे युवकों में ही मास्टर मोतीलालजी संघी भी थे। उन्होंने अपना कार्य क्षेत्र जयपुर रखा। वे चौमूं भी बराबर जाते रहते थे। मैं जब ७-८ वर्ष का हुआ तब मुझे चौमूं में ऐसी कई पुस्तकें मिली जिन पर सन्मति पुस्तकालय,

जयपुर की रवर स्टाम्प लगी हुई थी। मैंने अपने पिताजी से इसके बारे में जानकारी चाही तो उन्होंने वताया कि हमारे पड़ौस में रहने वाले श्री मोतीलालजी संघी द्वारा संचालित पुस्तकालय की ये पुस्तकें हैं।

फिर तो मुझे जब-तव मास्टर साहव के चौमूं में दर्शन होने लगे। वे सफेद खद्दर के कपड़े पहनते थे। मैं यह देखकर आश्चर्य करता था कि वे जब भी चौमूं आते तो पुस्तकों का बण्डल लाते थे। वे उन पुस्तकों को न केवल जैनियों को देते थे अपितु ब्राह्मण, वैश्य, मुसलमान, बुनकरों आदि सभी को देते थे। मैंने देखा था कि जो उन पुस्तकों को नहीं पढ़ पाते थे उन्हें वे पुस्तकों के अच्छे अंश पढ़ कर सुनाते थे। उन पुस्तकों में गीता, स्वामी रामतीर्थ, विवेकानंद का साहित्य भी रहता था। वे सही मायने में सम्प्रदायातीत व्यक्ति थे। उनके पास जो भी विद्यार्थी या असहाय पहुंचता उसकी वे सहायता अवश्य करते थे।

मैंने उनके पास एक २ पुस्तक की १०–२० प्रतियां भी देखी तो मैंने उनसे पूछा कि इतनी प्रतियां क्यों रखते हैं ? उन्होंने वताया कि अच्छी पुस्तक का जितना प्रचार हो उतना ही अच्छा है। एक वार मैंने उनसे पूछा कि पुस्तकालय की कई पुस्तकें लोगों में रहती हैं, उन्हें वापिस क्यों नहीं लेते ? उन्होंने सरल शब्दों में कहा कि आखिर कोई न कोई उन्हें पढ़ेगा ही।

उनके इन दोनों उत्तरों से यह लगा कि वे केवल शिक्षा एवं नैतिकता के प्रसारक थे। वे कभी दुरुपयोग की चिन्ता नहीं करते थे। मैं समझता हूं कि उन्होंने अपने सीमित साधनों के द्वारा समाज की जो सेवा एवं जागृति की उसे अक्षरों में नहीं लिखा जा सकता। उन्होंने ऐसे अनेक युवकों को सहारा देकर आगे वढ़ाया जो उस सहारे के अभाव में आगे नहीं वढ़ पाते।

खेद है कि समाज ने ऐसे सेवा भावी, शिक्षा प्रसारक, दीन-दुखियों के सहायक मास्टर साहव को उनके जीवनकाल में कोई वढ़ावा नहीं दिया। उन्होंने वृद्धावस्था में भी अकेले ही 'सन्मति पुस्तकालय' का भारवहन किया। वे स्वयं भी चलते फिरते पुस्तकालय थे। वे पाठकों की रुचि अनुसार पुस्तक उनके घर स्वयं पहुंचाते थे एवं लेते भी आते थे।

यह संयोग की वात है कि चौमूं निवासी मास्टर साहव के पुस्तकालय का भवन उन 'सेठी जी' के नाम पर वसे हुए नगर में वन रहा है जिन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की भावना के वशीभूत चौमूं ठिकाने के कामदार का महत्वपूर्ण पद त्याग दिया था।

उनमें परोपकारिता के साथ धार्मिकता का पुट था

(श्री ताराचन्द गंगवाल)

मास्टर साहब की जैन धर्म में अटूट श्रद्धा होते हुए भी वे अपने पुस्तकालय में सभी धर्मों की पुस्तकों का संग्रह रखते थे और अन्य धर्मावलंवियों को उनके ही धर्म द्वारा जैनधर्म की विशेषता ऐसी शैली से समझाते थे कि जिससे अन्य धर्मावलम्बी क्या हिन्दू क्या मुसलमान, बालक, जवान, वृद्ध सभी वर्ग उससे लाभ उठाते थे।

परोपकार की तो मानों वे चलती फिरती मूर्ति ही थे। असमर्थ शिक्षार्थी बालकों के तो वे मानों अभिभावक ही थे। उनको हर प्रकार से सहायता देकर योग्य बनाने का पूरे तौर पर ध्यान रखते थे, जिसकी वजह से आज व्यापारी वर्ग, इन्जीनियर, डाक्टर, अध्यापक, अधिकारी आदि अनेक क्षेत्रों में उनके शिष्य दिखलाई देते है।

मास्टर साहब के पूर्वज चूंकि चौमूं के निवासी थे और चौमूं ठिकाने में अच्छे ओहदों पर कार्य करते थे, यही कारण था तत्कालीन चौमूं ठाकुर श्री देवीसिंहजी मास्टर साहब से घनिष्ठ सम्बन्ध रखतें थे। उनसे जैनधर्म तथा अहिंसा के वारे में ऊहापोह किया करते थे। मास्टर साहव से जैन धर्म का व अहिंसा का स्वरूप सुनकर ठाकुर साहब इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने स्वयं मांस-मदिरा का त्याग ही नहीं किया वल्कि चौमूं में दशहरे के अवसर पर परंपरा से होने वाले बलिदान करना तक वन्द कर दिया। यह था मास्टर साहव का प्राणी-मात्र के प्रति दया के भाव का प्रभाव। मास्टर साहब मेरे पिताजी से (एक ही जगह चौमूं के निवासी होने व सहपाठी होने की वजह से) विशेष प्रेम रखते थें। उनका कार्यक्षेत्र अलग हो जाने से कभी-कभी जयपुर आते तो मास्टर साहव से अवश्य मिलकर धार्मिक गोष्ठी किया करते थे। मास्टर साहव ने उनको एक ऐसा अमोघ मंत्र वतलाया कि उसको वे अंत समय तक रटते रहे। वह मंत्र था "मैं (आत्म) भिन्न, शरीर (देह) भिन्न; इस मंत्र में या यों कहिये इन चन्द शब्दों में समस्त जैन धर्म का सार भरा हुआ था। यह थी मास्टर साहव की कुशाग्रवुद्धि द्वारा ग्रन्थों के सार समझने की शक्ति।

मास्टर साहब कितने निर्मोही थे; इसका भान मुझे उस समय हुआ था जबकि मैंने बचपन (करीब १६ वर्ष की अवस्था में कलकत्ते जाने का विचार पिताजी के सामने रक्खा तो मोहवश उन्होंने मुझे कलकत्ते जाकर कार्य करने की आज्ञा नहीं दी। मैं जिद्द करता रहा आखिर वे मुझे समझाने के लिये मास्टर साहब के पास लिवा लाए। मास्टर साहब ने मुझे समझाया कि तुम मुन्शीजी को (मेरे पिताजी को वे मुंशीजी शब्द से संबोधित करते थे) अकेले छोड़कर परदेश मत जाओ, मैं तुझे यहां पर ही सरकारी नौकरी जो तुझे पसन्द हो, दिलाऊँगा। परन्तु मैं तो हठवश ना हीं करता रहा। आखिर उन्होंने मेरे पिताजी को ही इस प्रकार समझाया कि उनका मोह जो मेरे कलकत्ते जाने में बाधक था, वह दूर हो गया।

वे परोपकारी व सेवाभावी विचार-धारा रखते हुए भी उसमें धार्मिकता का पुट देते हुए कहा करते थे कि माता-पिता की सेवा करना, उनके लिए रुपया, पैसा, नौकर-चाकर आदि सर्वप्रकार की सुख सामग्री जुटा देना या उनकी आज्ञा का भली प्रकार से धर्म पालन करने का लाभ ले सकें इसके लिए प्रयत्न करके उस प्रकार की सामग्री जुटा देना ही वास्तव में माता पिता की सेवा करना है। उनका अभिप्राय यह था कि यदि सन्तान धार्मिक ख्याल वाली होगी तो ही माता पिता के प्रति ऐसी सेवा करने का ख्याल कर सकेगी यह मास्टर साहब की धार्मिक संतानों को घूंटी पिलाने की महान् औषधि थी।

वे देवदूत की तरह आये

(श्री जयकुमार जैन)

पूज्य मास्टर साहब का मेरा पहिला साक्षात्कार मेरे स्वयम् के मकान पर ही हुआ था। तब मैं नवीं कक्षा में पढ़ता था। गर्मी का मौसम जून का महिना था, तारीख तो याद नहीं, जब वे स्वयं घर आये थे, हाथ में कुछ पुस्तकें भी उनके थी। उन्होंने आवाज देकर मुझे बुलाया था। मास्टर साहब की सादा वेषभूषा के बारे में मैंने सुन रखा था उसी आधार पर मैंने पहिचाना-उन्हें और अभिवादन भी किया। मास्टर साहब ने कहा मैं इधर से जा रहा था कुछ पुस्तकें विद्यार्थियों के लिये लाया था, सोचा तुम्हें भी देता चलूं। छुट्टियां हैं पढ़ोगे? मैंने मास्टर जी से कहा मास्टर साहब मैं तो स्वयं ही पुस्तकालय

आना चाहता था परन्तु किसी जानकार व्यक्ति के न होने से नहीं आ पाया वह हंसे और बोले जानकार व्यक्ति की क्या जरूरत थी ? मन्दिर में पुस्तकालय है आते दर्शन भी करते । अब आया करो ।

'यह पुस्तकें कितने दिन में पढ़ लोगे ? मैंने कहा, ५ दिन में । उन्होंने कहा कि ७ दिन में, आज के दिन ही मैं आकर ले जाऊंगा परन्तु शर्त यह है कि इन्हें पूरी पढ़नी पड़ेगी । मैं पढ़ी हुई किताब के बारे में पूछूंगा । मैंने बताया—मैं स्वयं ही पुस्तकालय में आऊंगा व किताबें पढ़कर लाऊंगा । मुझे स्मरण नहीं किस कारण से नहीं जा सका और न दोनों किताबें ही पूरी पढ़ सका । परन्तु मास्टर साहब ने स्वयं निश्चित तिथि को मेरे घर आकर रास्ते में खड़े बच्चों से आवाज दिलवाकर मुझे बुलवाया । मैं शर्म के मारे नत-मस्तक था । उन्होंने कहा—किताबें न पढ़ी हो तो कोई बात नहीं, अब पढ़ो । मेरे पास इन किताबों में से और ले लो । यह दूसरे विद्यार्थियों से वापिस लाया हूं । उन्होंने जो थोड़ा बहुत मैंने पढ़ा था उसके बारे में पूछा और कहा इसी तरह चाहिए, थोड़ा पढ़ना भी अच्छा है । लाइब्रेरी आना ।

१०–१२ दिन बाद पुस्तकालय में गया तो मास्टर साहब दोपहर की गर्मी में पंखी हिलाते हुये रजिस्टर में कुछ लिख रहे थे । मुझे देखकर वे प्रसन्न हुये । बैठाते हुये कहा—किताबें पूरी तरह पढ़ली हों तो दूसरी ले जाओ । इतिहास की पुस्तकें मुझे पसन्द थीं । रानी दुर्गावती पर उन्होंने एक पुस्तक दी परन्तु साथ में जैन धर्म पर भी एक छोटी सी पुस्तक दी । कहा—इनको पढ़कर लाओगे तो और भी अच्छी पुस्तक दूंगा । मास्टर साहब का मेरा यह छोटा सा सम्पर्क रहा है । वे **स्वयं देवदूत** की तरह आये और मुझे मार्ग बता गये । मकान दूर होने से पुस्तकालय तो जाने का क्रम नहीं बना परन्तु पुस्तकें पढ़ने का शौक लग गया । पास के सार्वजनिक पुस्तकालय में जाना शुरू कर दिया । मास्टर जी को लाईब्रेरी जाने की बात थोड़े दिन बाद बताई उन्होंने खुश होकर कहा बेटा ! **खूब पढ़ो समय आवेगा तुम्हारी पढ़ाई काम आवेगी । बड़े बनोगे । अभाव से बना यह अलभ्य मानव जीवन इसी तरह** सार्थक होगा । उनके यह शब्द आज भी मेरे मानस पटल को छूते हैं प्रेरणा देते हैं ।

मास्टर साहब ने जयपुर में ही जाति-पांति के भेद से परे रह कर सैंकड़ों नवयुवकों को सुयोग्य नागरिक बनाया है । जिन विद्यार्थियों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी उनकी पुस्तकें तथा फ़ीस के पैसे जुटाते थे । स्कूलों में जाकर प्रधानाध्यापक से मिल कर ऐसे छात्रों का पता चलाते थे जो फ़ीस के

ख़ातिर परीक्षा में न बैठने को मजबूर होते लगते थे। वे उन्हें बिना मालूम पड़े ही फीस जमा करा देते थे। कितने ही विद्यार्थियों एवं अभावग्रस्त व्यक्तियों के लिए तो खाने पहिनने तक की व्यवस्था करते थे परन्तु सब अन-देखे, अनकहे ही। मास्टर साहब की सादगी, सत्य, नम्र व्यवहार, सहायता का खुला हाथ अपनी थोड़ी कमाई में से भी बचा कर पुस्तकें खरीद कर जन साधारण के उत्कर्ष के विचार से उन्हें उपलब्ध कराना, जैन धर्मावम्बी होते हुये भी अन्य धर्मावलम्बियों के साथ सहिष्णुता का व्यवहार, उनका साहित्य पढ़ना, खरीदना व उपदेशकों के उपदेशों में नियमित रूप से जाना उनकी अपनी वज़ा थी। वहां वे जो सुनते और उपादेय समझते उसको अपने पास रखी छोटी सी डायरी में लिखते थे और लिखने मात्र तक ही सीमित न रह कर उसे जीवन में उतारने का प्रयास करते थे। उनका नियमित जीवन इस भौतिक युग में जब हम धन वैभव की दौड़ में निरन्तर लगे हैं अनुकरणीय है।

सच्चा त्याग ही उनके जीवन का ध्येय था

(श्री शान्तिकुमार जैन)

एक युग बीत गया मास्टर साहब का स्वर्गवास हुए। आज के छात्र वर्ग को तो यदि मास्टर साहब की सादगी, त्याग, तपश्चर्या आदि के संबंध में कहा जाये तो उन्हें अविश्वसनीय प्रतीत होगा। कहां है वैसे अध्यापक तथा कहां है वैसे छात्र—आज के युग में जहां छात्र असंतोष, उदण्डता एवम् अनुशासनहीनता का सूचक है वहां मास्टर साहब का छात्र प्रेम एवम् छात्रों का उनके प्रति आदरभाव इस युग के छात्र-छात्राओं के लिए एक आदर्श का प्रतीक है।

सन् १९३६ की बात है। मैं तब दरबार हाई स्कूल में पढ़ता था। मास्टर साहब हमें गणित पढ़ाया करते थे। एक दिन की बात है। मेरी गणित की पुस्तक खोगई। मैंने गणित की पुस्तक खो जाने के बारे में स्वर्गीय पिताजी को कहा। उन्होंने रात होजाने के कारण पुस्तक दूसरे दिन लाने को कहा। दूसरे दिन मैं कक्षा में गृहकार्य (Home work) नहीं करके ले जा सका मास्टर साहब ने पूछा काम करके क्यों नहीं लाया—पढ़ाई से क्यों जी चुराते

हो। मैंने अपनी असमर्थता पुस्तक खोजाने के बारे में कही। उन्होंने मुझसे पूछा 'सही सही बताओ वास्तव में खो गई है अथवा काम के डर से ही यह बहाना बनाया है। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि वास्तव में खो गई है एवम् पिताजी आज शाम को पुस्तक लाकर दे देंगे। उन्होंने मुझे फौरन अपने पास से पैसे दिये तथा आदेश दिया। मैं उस ही समय 'मित्र कार्यालय' बुक-सेलर्स से जो कि उस समय जौहरी बाज़ार में स्थित था से खरीदकर पुस्तक ले आऊं। मैंने जब कहा कि पिताजी शाम को पुस्तक लाकर दे देवेंगे तथा आपसे पुस्तक के पैसे लेने पर डाटेंगे तो उन्होंने मुझसे कहा तुम्हें इससे क्या। मैं सरदारमल को 'स्वर्गीय पिताजी' स्वयं ही कह दूंगा वह तुम्हें कुछ नहीं कहेंगे। ऐसा था उनका स्नेह अपने छात्रों की शिक्षा के प्रति।

बचपन से ही श्री सन्मति पुस्तकालय में उनके पास जाने का अच्छा सौभाग्य प्राप्त होता था। सभी प्रकार की पुस्तकों के साथ वे जीवन चित्र और धार्मिक पुस्तकें भी पढ़ने के लिए दिया करते थे। तथा जब उक्त पुस्तकें लौटाने जाता था तो यह अवश्य पूछते थे कि उसमें मैंने क्या पढ़ा तथा उससे क्या नया ज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञान की बातों को वे अपने आचार व्यवहार व जीवन में उतारने की प्रेरणा देते रहते थे।

उस युग में शिक्षा के क्षेत्र में एवम् पुस्तकालय के बारे में जो कार्य जयपुर में उन्होंने किया वह बिना किसी लालच या प्रतिफल अथवा प्रसिद्धि की आशा से किया। सच्चा त्याग ही उनके जीवन का ध्येय था तथा आयु-पर्यंत वे इसको निभाते रहे। ऐसा व्यक्ति यदि किसी विदेश में यथा अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन अथवा यूरोप में जन्मा होता एवम् ऐसा कार्य किया होता तो शायद वह समाज या देश उन्हें कितना सम्मान देता यह कहना कठिन है। परन्तु परतंत्र भारत में और विशेषकर जयपुर सरीखे देशी व पिछड़े हुए राज्य में जो कार्य उन्होंने किया वह अपने आपमें बहुत बड़ी बात है।

गरीबों के साथी

(श्री छुट्टन लाल बिलाला)

श्री मोतीलालजी मास्टर साहब के सम्पर्क में मुझे भी रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पुस्तकालय चलाना ही उनका ध्येय नहीं था। वे रोड़ी में से रतन निकालने वाले चतुर तथा बुद्धिमान् पुरुष थे। वे कीचड़ रूपी गरीब तबके में से होनहार युवक को अपनी तरफ खेंचकर उस युवक का भविष्य उच्चकोटि का बनाने में भरसक तन, मन, धन से योग देते थे। आज भी उनके तैयार किये हुये कितने ही सज्जन मौजूद हैं। अगर मास्टर साहब के निकट वे नहीं आते तो साधारण जीवन व्यतीत होता। सादा वेषभूषा एवं मोटा खद्दर पहनने वाले मास्टर साहब के परिधानों की सादगी हरेक प्राणी को मोहित करती थी।

एक दफा की बात है—मैं हल्दियों के रास्ते में होकर जारहा था और सामने से मास्टर साहब पधार रहे थे और मेरे हाथ में धोती का हिस्सा था। मैं खुली लांग का हिस्सा हाथ में पकड़े पकड़े चल रहा था। मास्टर साहब ने बहुत धीमें से कहा, इस धोती के गुलाम क्यों हो रहे हो ? भारत की आज़ादी लेने वाले युवक इस तरह से धोती के गुलाम रहें यह ठीक नहीं। धोती थोड़ी ऊंची बांधा करो। इस तरह उनके सम्पर्क से कितनी ही शिक्षा मिला करती थी।

गृहस्थ रहते हुए भी विरक्त

(श्री बालचन्द)

मास्टर मोतीलालजी संघी उन महान् विभूतियों में से थे जो इस संसार में जन्म लेकर अपने जीवनकाल में "सादा जीवन उच्च विचार" की शिक्षा का पालन करते हुए एक ऐसे इतिहास का निर्माण कर जाते हैं जो युगों तक आने वाली पीढ़ी का मार्गदर्शन करता रहता है और मानव उससे लाभान्वित होते रहते हैं।

भारत विभाजन के कारण हमें पाकिस्तान छोड़कर भारत के इस ओर जयपुर आना पड़ा। यहाँ आने पर श्री वड़ा मन्दिरजी में प्रतिदिन देवदर्शन

हेतु अवश्य जाना ही पड़ता था। इसी बीच मास्टर साहब से भी, जो बड़े मन्दिर में सन्मति पुस्तकालय चलाते थे, साक्षात्कार हुआ। मास्टर साहब की तारीफ तो बहुत सुन रखी थी परन्तु परिचय मास्टर साहब के दर्शन से ही मिला। खद्दर की टोपी, कुर्ता-धोती पहने हुये, मझला कद, दुर्बल शरीर, चौड़ा ललाट, प्रभावशाली मुखड़ा तथा सौम्य स्वभाव की मूर्ति को देखते ही मन पर एक अद्भुत प्रभाव पड़ता था और श्रद्धा से मस्तक उनके चरणों में अनायास ही झुक जाता था।

मास्टर साहब गृहस्थ में रहते हुए भी विरक्त थे। जनहित तथा निःस्वार्थ सुश्रुषा की ही हमेशा भावना लिये हुये वे प्रत्येक समय व्यस्त रहते थे। उनका एकमात्र ध्येय दीन दुःखी असहाय, अनाथ, निर्धन तथा अशिक्षितों की सहायता करना और उनके दुःख को अपना दुःख समझना था।

मास्टर साहब कितने जीवों के उत्थान के निमित्त बने इसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। मास्टर साहब के अनेक शिष्य आज भी देश तथा राज्य के बड़े बड़े उच्च पदों पर आसीन हैं। मास्टर साहब के अनेक महान् कार्यों में से एक काम उनके द्वारा स्थापित सन्मति पुस्तकालय है; जो इस समय राज्य के ही नहीं अपितु देश के पुस्तकालयों में से अपना विशेष स्थान रखता है।

सम्यक् श्रद्धानी मास्टर साहब

(श्री प्रकाशचन्द्र साह)

श्री मोतीलालजी मनुष्य पर्याय में देवता के समान थे। वे स्वभाव से मृदु व दयालु थे। असहायों व जरूरतमन्दों की सहायता करना अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। अध्ययन व अध्यापन में उनकी विशेष रुचि थी अतः उनके समकालीन जयपुर के अधिकांश शिक्षित व्यक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उनके सम्पर्क में आये।

पुस्तकालय में बैठे हुए अथवा पुस्तकों के वितरण हेतु मार्ग में जाते हुए या एकान्त में बैठे हुए वे सदैव आध्यात्मिक भजन व वाक्य दोहराया करते थे। वे अन्य सांसारिक कार्य करते हुए भी अपने उपयोग को आत्मा की ओर लगाने का सफल प्रयत्न करते रहते थे। अपने आपको सही रूप में

पहचानते थे। उनका श्रद्धान था कि मैं जो आत्मा (चेतन) हूं, शरीर जो जड़ है से पूर्णतया भिन्न हूं। अतः अपने परिचितों से मिलने पर उनका प्रथम वाक्य होता था, "भाई कभी अपना भी तो ख्याल करो। दूसरों (शरीर व उससे सम्बन्धित अन्य) का खयाल तो जीवन भर किया, किन्तु यह सब निरर्थक है। धार्मिक व आध्यात्मिक पुस्तकों का मनन करो तथा जीवन का कुछ काल स्वाध्याय में व्यतीत करो।"

वे नैतिक मनोबल बढ़ाने पर जोर देते थे

(श्री अवधबिहारी नाग)

श्रद्धेय मोतीलालजी के सम्पर्क में लगभग सन् १९३५ में आया, जब वे सेवा निवृत्त हो चुके थे तथा श्री सन्मति पुस्तकालय के संचालन में अत्यन्त व्यस्त थे। जब मैं उनसे एक विद्यार्थी के रूप में ग्रीष्म अवकाश काल में पाठ्यक्रम के अतिरिक्त पुस्तकों के पठन हेतु मिला, तो मास्टर साहब का सौम्य स्वभाव, सादगी, सौहार्द एवं सेवाभाव तथा नवयुवकों के नैतिक व मानसिक उत्थान में उनकी रुचि देखकर उनके व्यक्तित्व की छाप मानस पटल पर गहरी पड़े बिना न रह सकी, क्योंकि वे चरित्र-निर्माण एवं नैतिक मनोबल बढ़ाने पर विशेष जोर देते थे। सम्भवतः उनके समय के जयपुर के विद्यार्थी एवं समाज के सभी लोग आपके सम्पर्क में आये और पुस्तकालय से लाभ उठाया।

वे साधु ही तो थे
(श्री महेन्द्रकुमार रविकर)

१—सायर, सिंह, सपूत

श्रद्धेय मास्टर साहब की वाणी मानों आज भी मेरे कानों के पास गूंज रही है और जाने अनजाने मैं उसे सुनता हूं।

मैं पांचवीं कक्षा का विद्यार्थी था। मास्टर साहब के प्रथम दर्शन हुये और परिचय हुआ तो 'सती चन्दन बाला' नाम की पुस्तक उन्होंने मुझे पढ़ने को दी। दुर्भाग्य से पुस्तक गुम हो गई।

इस डर से कि पुस्तक जमा करानी पड़ेगी या उसकी कीमत देनी होगी, मैं बहुत दिनों तक सन्मति पुस्तकालय नहीं गया। बहुत दिनों बाद किसी सहपाठी के साथ जाना हुआ और मैंने पुस्तक गुम होने की बात मास्टर साहब से कही। उन्होंने प्रेम से पुस्तक का महत्व समझाया, उसे सम्हाल कर रखने की सलाह दी और एक बड़ी जिल्द बंधी पुस्तक 'पुण्याश्रव कथा कोश' हाथ में थमा दी। महामानव की ओर निगाह उठा कर देखने की शक्ति मुझमें नही थी। रास्ते भर सोचता रहा—

कैसा पुस्तकालय और कैसे पुस्तकालयाध्यक्ष—ऐसा तो कहीं नहीं होता।

इस तरह तो लोग बिना पुस्तक खोये भी बहाना लगाकर पुस्तकें लेते रहेंगे। इस महान् व्यक्ति की कल्पना मेरे मस्तिष्क से बाहर थी। यह एक नया मार्ग था, नई दिशा थी—

सच है—

लीक लीक गाड़ी चले लीकै चले कपूत,
लीक छोड़ तीनों चले सायर, सिह, सपूत।

दूसरे पुस्तकालय चन्दा लेते होंगे सदस्यता के फ़ार्म भरवाते होंगे, कुछ भी करते होंगे, इससे उन्हें क्या मतलब? उनकी अपनी दिशा थी, अपना मार्ग था, सबसे नया, सबसे ऊंचा और सबका हित करने वाला। पुस्तकों का उपयोग होना चाहिए, बस यही उद्देश्य था। कोई पुस्तक वापिस नहीं आई तो कोई बात नहीं, चिराग जहां भी होगा वहां रोशनी देगा। कोई न कोई पुस्तक पढ़ेगा ही, श्रद्धेय मास्टर साहब का ऐसा ही विचार था।

आश्चर्य नहीं किसी ने अनुचित लाभ उठाकर पूरी लाइब्रेरी ही खड़ी करली किन्तु श्रद्धेय मास्टर साहब कार्यनिष्ठ थे। बस यही तो है कि दूसरे पुस्तकालय का नाम सन्मति पुस्तकालय नहीं होगा। काम तो वही होगा जो यहां होगा।

२—परिस्थितियों के स्वामी

मानव परिस्थितियों का दास है या परिस्थितियाँ मासव की दास हैं। परिस्थितियों का दास होना दुर्बल व्यक्तित्व है। मास्टर साहब कोई समृद्ध परिवार के सदस्य नहीं थे। स्वावलम्बन, मितव्ययता और कर्तव्यपरायणता के कारण स्वल्प साधनों से ही वे कितना विशालाकार पुस्तकालय बना गए यह आश्चर्य का विषय है। सरकारी नौकरी से पेंशन होने के बाद कितने व्यक्ति हैं जो जीवन का सदुपयोग करते हैं ?

एक चीनी कहावत है —

अन्धेरे की आलोचना करने की अपेक्षा अपने पास की छोटी मोमबत्ती को जलाना वेहतर है।

यह 'छोटी मोमबत्ती' प्रत्येक के पास है। अपने सीमित साधनों का उपयोग करके व्यक्ति कितना महान् हो सकता है, मास्टर साहब इसका जीते जागते उदाहरण थे।

३—निस्वार्थ सेवक कि वो तपस्वी साधु

मास्टर साहब की निस्वार्थ सेवा के सम्बन्ध में दो शब्द भी लिखना लेखनी के सामर्थ्य के बाहर की बात है। मुख्तार साहिब की 'मेरी भावना' में पाठ है—

"स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या,
बिना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के,
दुःख समूह को हरते हैं।"

इसका अर्थ मैं ज्ञानी शब्द को साधु का विशेषण मान कर नहीं करता मेरे विचार से "स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या भी बिना खेद के करते हैं, ऐसे ज्ञानी ही साधु हैं जो जगत के दुखों का नाश करते हैं।"

श्रद्धेय मास्टर साहव निस्संदेह साधु स्वरूप थे। उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से युगों तक मानवता का कल्याण होता रहेगा।

धर्मनिष्ठ मास्टर साहब
(वैद्यराज पं० चिरजीव लाल शर्मा)

मेरा और मास्टर साहब का बहुत पुराना सम्बन्ध है। वे मेरे पिताजी के सहपाठी थे, पांचवी-छठी कक्षा में अध्ययन करते हुए। मेरे पिताजी के साथ पूर्ण स्नेह था। प्रायः स्कूल जाते-आते समय एक साथ रहते थे और दिन में भी एक साथ पढ़ते। पिताजी मास्टर साहब को आदर्श दृष्टि से देखते थे। ६६ वर्ष की उम्र तक मास्टर साहब के साथ उनका पूर्ण मैत्री भाव बना रहा। मुझसे कई बार कहते थे कि मास्टर साहब के समान जयपुर के जैन समाज में दूसरा मनुष्य नहीं है। मेरे पिताजी का स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् भी मास्टर साहब का पूर्ण वात्सल्य भाव रहा। वे मुझसे कई बार कहते थे कि तुम सन्ध्या वन्दन, गायत्री जप करते हो या नहीं और भोजन से पहले देवदर्शन करते हो या नहीं।

मैं एक बार अध्ययन काल में एक उपन्यास लेने के लिए मास्टर साहब के पास पुस्तकालय में गया। मास्टर साहब मेरी ओर देखकर कुछ गम्भीर भाव से मुस्कुराए और बोले तुम हमारे मित्र रामचन्द्रजी के लड़के हो। हम भी तुमको पुत्रवत् समझते हैं। यह कहकर उन्होंने एक मनुस्मृति की प्रति निकाल कर दी और कहा—तुम्हारे पढ़ने योग्य यही पुस्तक हैं। इसको आद्योपान्त पढ़ना। मैंने मास्टर साहब की आज्ञा से उसे अक्षरशः पढ़ा और मनन किया। इससे चित्त को शान्ति मिली। फिर मैं मास्टर साहब से मिला। उनसे वार्तालाप होने पर दूसरी धार्मिक पुस्तक भी दी। उसी दिन से मास्टर साहब के सदुपदेशों से प्रभावित होकर उपन्यास पढ़ना छोड़ दिया।

मास्टर साहब जैन समाज के ही नहीं, अपितु जयपुरीय जनता के सच्चे भक्त थे। उनकी सेवाओं का सच्चा स्मारक सन्मति पुस्तकालय है, जिसको उन्होंने तनख्वाह में से बचाकर पुस्तकें खरीदकर समाज के उपकारार्थ शुरू किया। और अपने अथक परिश्रम द्वारा सञ्चित करते हुए पुष्पित, पल्लवित तथा फलित किया।

मास्टर साहब को किसी भी धर्म से घृणा नहीं थी। वे सब मजहबों को मानते थे और सबमें विश्वास रखते थे। और कहते थे कि सब धर्मों का मूल सिद्धान्त एक है।

मास्टर साहब की धर्म परायणता, सत्यनिष्ठा, सेवा-भाव, परोपकारिता और सच्चरित्रता से हम लोगों को सबक लेना चाहिये। भगवान से प्रार्थना है कि ऐसे आदर्श पुरुष समाज में उत्पन्न करे।

उनके पीछे तपस्या का बल था

(श्री मोहनलाल माथुर)

मैं माननीय श्री मोतीलालजी संघी का शिष्य सन् १९१७ से १९२० तक रहा। मेरी रुचि गणित की ओर देख कर वे स्वतः ही मेरी ओर आकर्षित हुए।

उस समय स्कूलों में चक्रवर्ती अंकगणित पढ़ाई जाती थी, परन्तु मास्टर साहब ने विशेष रूप से सिम्स अर्थमेटिक द्वारा प्रश्न हल करवाये, जिसका परिणाम यह हुआ कि हाई स्कूल तक न केवल अंकगणित में बल्कि व्यवहार गणित तथा रेखा गणित में शायद ही कभी परीक्षकों ने अंक काटे हों।

मास्टर साहब आग्रह पूर्वक "की ऑफ नालेज" मुझे बार-बार पढ़ने को देते। जब मैं केवल ९ वीं या दसवीं कक्षा का विद्यार्थी था और मेरे यह कहने पर कि यह ऊंची पुस्तक है, फरमाया करते क्या तुम्हें अंग्रेजी का ऊंचा विद्वान नहीं बनना है।

ऐसे कई अवसर आये जब मास्टर साहब के पास कोई विद्यार्थी आर्थिक सहायता के लिए उपस्थित हुआ, तुरन्त मुझे याद फरमाया और मुझे साथ लेकर ऐसे सज्जनों के पास पधारे कि विद्यार्थी का काम तुरन्त हो गया। एक बार एक बड़े आदमी के दो बच्चे सातवीं में फेल होते थे और उन्होंने दबाव डलवाया कि उनके अंक बढ़ा दिए जावें और यह धमकी भी दी कि ऐसा न करने पर अच्छा नहीं होगा। मास्टर साहब ने जब यह बात मुझे बताई तो मैंने आश्वासन दिया कि आप कोई चिन्ता न करें, इस मामले को मैं संभाल लूंगा। वह मामला बहुत ही गंभीर निकला तथा उसमें कई पदाधिकारियों को हानि उठानी पड़ी। परन्तु मास्टर साहब का बाल भी बांका न हुआ, क्योंकि उनके पीछे तपस्या का बल था।

उनके शब्द चालीस वर्ष से पथ-प्रदर्शक

(दौलतमल अजमेरा)

श्रद्धेय मास्टर साहब ने करीब चालीस वर्ष पहले एक दिन रास्ते में मिल जाने पर मुझसे कहा "बेटा दौलत! पूर्व जन्म के उपार्जित पुण्य कर्मों के उदय से तुमने अच्छे कुल व अच्छे घर में जन्म लिया तो फिर अब आगे के लिये उसी प्रकार अच्छे बीज नहीं बोओगे तो आगे जीवन में क्या काटोगे"। मास्टर साहब के इन शब्दों का मेरे हृदय पर इतना प्रभाव पड़ा कि गत चालीस वर्ष से वे मेरा समय-समय पर पथ-प्रदर्शन करते रहे हैं।

किसी का भी दुख नहीं देख सकते थे

(सूरजमल डंडिया)

मास्टर साहब मोतीलालजी उन महान् विभूतियों में से थे जो किसी का भी दुख नहीं देख सकते थे। मेरा उनसे जीवन में काफी सम्पर्क रहा। मेरी संतान के लिए शिक्षा सम्बन्धी मामलों में उनकी काफी मदद रही। श्री सन्मति लाइब्रेरी के मुत्तालिक उनका बड़ा व्यापक दृष्टिकोण था। जैन और अजैन सबके घर पर जा-जा कर किताबें पहुंचाते थे, और वे खुद ही जाकर कई दफा वापिस लाते थे। वे अपना सारा जीवन सन्मति लाइब्रेरी की सेवा में अर्पित कर चुके थे।

मानवता के प्रतीक

(श्री मिलापचन्द जैन)

यों तो दुनियां के समुन्दर में कमी होती नहीं।
लाखों मोती हैं मगर इस आब का मोती नहीं ॥

जैसा कि पृथ्वी का नाम रत्नगर्भा है, इसकी कोख से यदा-कदा मानवरत्न पैदा होते ही रहते हैं। महामना मास्टर साहब मोतीलालजी संघी भी अपनी सानी के एक ही मानव थे। सम्यक्ज्ञान के प्रचार और प्रसार द्वारा जनता के अज्ञानान्धकार को दूर करना उनके जीवन का मूलमन्त्र था और इसी की साधना में उन्होंने अपना तन, मन, धन सर्वस्व अर्पण कर दिया। साम्प्रदायिकता और जातिवाद से परे होकर वे जन्म भर मानवता की सेवा करते रहे। मानवता उनके जीवन में साकार हो उठी थी। भारतीय संस्कृति-सादा जीवन, उच्चविचार के वे प्रतीक थे। उनकी सादगी, ईमानदारी और विनम्रता सबके मन को मोह लेती थी। उनके सम्पर्क में जो भी आया, उनके आदर्शो से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा, अभावग्रस्त विद्यार्थियों तथा विधवाओं व असहायों पर उनके हृदय में अपार सहानुभूति थी और वे येन केन प्रकारेण उनकी सहायता करना परम अपना परम कर्तव्य समझते थे। संक्षेप में वे कर्मयोगी थे। प्रदर्शन एवं प्रचार से दूर रहकर वे काम करना ज्यादा पसंद करते थे। वे मानवता के सिद्धान्तों को बोलकर समझाने की अपेक्षा उन पर अमल कर समझाना ज्यादा उपयुक्त मानते थे और यही उनकी सफलता का रहस्य था।

बे महामानव थे

(श्री भंवरलाल न्यायतीर्थ)

मास्टर मोतीलालजी से सर्व प्रथम मैं १९२६-२७ में मिला था जबकि मैं षष्ठ श्रेणी में पढ़ता था। उस दिन की बात आज भी मुझे याद है। सबसे पहला प्रश्न उनका यह था कि तुम्हें णमोकार मंत्र आता है या नहीं? मैंने कहा—आता है। दूसरा प्रश्न था–धर्म की क्या २ पुस्तकें पढ़ी हैं। मैंने उत्तर दिया–छह ढाला पढ़ चुका हूं, द्रव्य संग्रह पढ़ रहा हूं। तब तो बहुत खुशी की बात है—

यह कहते हुए छह ढाला के कुछ पद्य बड़ी तल्लीनता से उन्होंने सुनाये और पूछा कि इनका अर्थ समझ में आता है। मेरा उत्तर 'हाँ' में था। इसके पश्चात् मैंने कोई पुस्तक पढ़ने को मांगी तो उन्होंने ब्रह्मचर्य संबंधी एक पुस्तक निकाल कर देते हुए कई उपदेशात्मक बातें कहीं। उनके साथ करीब एक घंटे का यह समय आज भी आंखों के सामने है। कुछ बातें ऐसी होती हैं जो छोटी होते हुए भी जीवनस्पर्शी होती हैं और वे सदा याद रहती हैं। पूज्य मास्टर साहब इस तरीके से विद्यार्थियों और युवकों को अपनी ओर आकृष्ट करते थे। छात्र की रुचि देख वे पुस्तकें देते–पर यह ध्यान रखते कि इससे पाठक को कुछ मिलना चाहिये। पढ़ने वाला सदाचारी बने–यह उनका लक्ष्य था।

उनका सादा और त्यागमय जीवन, अहर्निश सेवा कार्य, पर-दुख कातरता, छात्रों की हित-चिन्तना आदि ऐसे अनेक गुण में थे जिनके कारण उनके प्रति श्रद्धा से मस्तक झुके बिना नहीं रहता।

एक बार एक छात्र को कुछ कोर्स की पुस्तकों की आवश्यकता थी–उनमें कुछ पुस्तकें उस समय पुस्तकालय में नहीं थी। मेरे सहपाठी स्व० भाई श्री प्रकाश जो पुस्तकालय का काम देखते थे। उन्होंने कहा कि ये पुस्तकें नहीं हैं आप और कहीं से ले लीजिये। छात्र निराश हुआ। खरीद कर पढ़ना उसके लिये असंभव था। मास्टर साहब ने उसके चेहरे को देखा और फौरन ही कहा कि चिन्ता क्यों करते हो, कल आकर ले जाना। साथ ही श्री प्रकाशजी से कहा कि ऐसा उत्तर क्यों देते हो यह कहाँ से लायेगा।

वे वैरागी थे। घर में रहते हुए भी जल में रहने वाले कमल की तरह निर्लिप्त थे। भोजन के अतिरिक्त सारा समय उनका पुस्तकालय में जाता। वे

स्वयं घरों से पुस्तकें लाते। गट्ठा बांधकर बगल में दबाकर लाने में वे हेठापन नहीं समझते थे। वे बच्चों को पढ़ाते रहते और पुस्तकों के गत्ते चढ़ाते जाते थे। गणित के विशेषज्ञ थे। यदि कोई छात्र न होता तो वे आध्यात्मिक भजन गुनगुनाते और गत्ते चढ़ाने का काम जारी रखते थे। उन्हें कवि दौलतरामजी भूधरदासजी आदि के अनेक भजन कण्ठस्थ थे।

वे सरल स्वभावी, निरभिमानी और और सच्चे अर्थों में धर्मात्मा थे। कई बार वे अपनी छोटी २ कमियों को पूज्य पंडित चैनसुखदास जी के सामने रखते और उनका समाधान चाहते थे। वे कहते अमुक गलती मुझ से हो गई, मैं क्या करूं? महान् आत्मा ही अपनी गल्तियों को ठीक करने में सतत प्रयत्नशील रहता है- मास्टर साहब भी महामानव थे तभी आज वे हम सबके श्रद्धा के पात्र हैं।

वे मानवता के प्रतीक थे

(श्री मुन्नीलाल अजमेरा, चार्टर्ड अकाउन्टैन्ट)

सन् १९३८ की बात है जबकि मेरी आयु १५ वर्ष की थी और मैं सातवीं कक्षा में पढ़ता था। मैं गणित में बहुत कमजोर था—और मुझे मेरे स्वर्गीय पिताजी चिमनलालजी के आदेश से गर्मियों की छुट्टियों में मास्टर साहब के पुस्तकालय में जाने का अवसर प्राप्त हुआ और पहली बार सौम्य व अत्यन्त सादगी से जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति से मेरा साक्षात्कार हुआ और न जाने किस दिव्य शक्ति से मेरा हृदय ऐसे महान् आत्मा को अपने गुरू के रूप में पाकर गद्‌गद् हो गया। उनके अत्यन्त प्रेम व स्नेहपूर्ण शब्द "बच्चे कौनसी कक्षा में पढ़ते हो—यदि गर्मियों की छुट्टियों में निरन्तर आते रहे तो मैं तुम्हें गणित में प्रवीण बना कर छोडूंगा।" और वास्तव में ऐसा ही हुआ। मास्टर साहब की निरन्तर देखरेख से दिन-दिन गणित में न केवल कमजोरी ही दूर हुई किन्तु किसी कठिन से कठिन प्रश्न को हल करने में सरलता मालूम होने लगी।

मास्टर साहब मुझे धर्म का प्रारम्भिक ज्ञान भी कराते रहते थे और जीवन को आदर्श बनाने के लिये अन्य विषयों पर भी उपदेश देते थे। आज जिस अवस्था में मैं अपने आप को पाता हूँ, वह मास्टर साहब की ही देन है। शिक्षा-क्षेत्र में इस तरह का योगदान प्रत्येक विद्यार्थी के साथ रहता था।

मास्टर साहब मानवता के प्रतीक थे। अभावग्रस्त विद्यार्थी व विधवाओं के प्रति उनके हृदय में अपार प्रेम था। वे जीवन भर तन, मन, धन से उनकी सेवा करते रहे।

वे सच्चे मायने में मानव थे

(श्री रामकिशोर व्यास)

चौमूं के निवासी स्वर्गीय मास्टर मोतीलाल जी संघी जयपुर में एक स्कूल के साधारण से अध्यापक थे। उन्होंने अपने जीवन काल में सेवा का व्रत लिया और उसे जीवन के अंतिम क्षण तक निभाया। मास्टर मोतीलाल जी की साधारण वेषभूषा, खादी का लिबास और सौजन्यतापूर्ण बोलचाल थी। मेरा उनसे बचपन से ही संपर्क रहा है और जब से उन्होंने सन्मति पुस्तकालय प्रारंभ किया था तब से मैं भी उनके पास आया जाया करता था। उनसे पुस्तकें पढ़ने को लाता था। मास्टर साहब ने पुस्तकें एकत्र करने में जो परिश्रम किया उससे अधिक उनके सदुपयोग में वे स्वयं घर पर जाकर नवयुवकों को पुस्तकें देते थे और वापिस लाते थे। इस प्रकार उन्होंने पढ़ने में उत्साह बढ़ाया। यदि किसी विद्यार्थी से पुस्तक खो भी जाती थी तो उसके लिए वे विद्यार्थी को कुछ नहीं कहते, बल्कि यह प्रेरणा देते थे कि खो गयी तो कोई बात नहीं, अब संभाल कर रखना। यदि वह पुस्तक नहीं पढ़ी हो तो दूसरी लेकर पढ़ो।

मास्टर मोतीलाल जी की किसी व्यक्ति विशेष से किसी भी प्रकार की शत्रुता अथवा द्वेष की भावना नहीं थी। वे सच्चे मायने में मानव थे। जाति-पांति के भेद से परे साधुव्रती थे। विद्यार्थी वर्ग के लिए तो वे कुबेर ही थे। अर्थ की जिन्हें आवश्यकता होती उन्हें वे पैसे से, किताबों की आवश्यकता वालों को किताबों से, तथा जीवन यापन की अन्य सामग्री भी जुटाते थे। विशेष बात यह है कि जीवन निर्माण हेतु साधन जुटाने पर भी उन्होंने अपने किये कार्य के लिए मुख से कभी नहीं कहा। नेकी कर कुए में डाल का सिद्धान्त उन्होंने अपने जीवन में पूर्ण रूपेण उतारा था।

इस मानव की याददाश्त आज सन्मति पुस्तकालय एवं जयपुर शहर में तथा राजस्थान के बाहर प्रवासी सैकड़ों सम्भ्रान्त परिवारों के रूप में है जिनके जीवन-निर्माण में मास्टर जी का हाथ रहा है।

उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजली यही होगी कि पूज्य मास्टर जी की बनाई हुई परम्परा को हम निभायें, उनकी प्रवृत्तियों को चलायें, पुस्तकालय को सच्चे रूप में संचालित करें। इस कार्य के लिए सभी वर्गों व समाज के लोग योगदान को तैयार हैं।

सन्मति पुस्तकालय जिसके कि भवन का निकट भविष्य में निर्माण होने जा रहा है, जिसके लिए भूमि उपलब्ध कराने में मेरा भी गिलहरी जितना योगदान रहा है। मुझे विश्वास है कि वह शीघ्र ही पूर्ण होगा और सर्वदा हमारा प्रेरणा स्रोत होगा—पूज्य मास्टर साहब के कार्य को आगे बढ़ाने में।

उनकी अमिट छाप मेरी मार्ग दर्शक

(डा० गोपीचन्द पाटनी)

आदर्श मानव, महान् त्यागी, मूक सेवाभावी, शिक्षा प्रेमी, आत्म संयमी, दृढ़ प्रतिज्ञ, निष्ठावान, असमर्थ छात्रों के सहायक, प्रचार से कोसों दूर, अध्ययन, शिक्षण, परोपकार की साक्षात् मूर्ति, सबही क्षेत्रों में एवं बालक, युवा व प्रौढ़ सब ही व्यक्तियों के लिये 'आदर्श' 'मोती' एवं 'लाल' में भी संघी शिरोमणि पूज्य श्री मास्टर साहब के जीवन से मेरे ऊपर पड़ी अमिट छाप सदैव मेरी मार्गदर्शक रही हैं।

'स्कूल' कही जाने वाली किसी संस्था में शिक्षा ग्रहण करने का तो सौभाग्य मुझे नहीं प्राप्त हुआ परन्तु उनके जीवन व सम्पर्क से मैंने उनसे जो पाया व सीखा है वह मेरे लिए अमूल्य है। मैंने सदैव उन्हें पिता तुल्य व गुरु समझा है।

ऐसे व्यक्ति को किन शब्दों में श्रद्धांजलि अर्पित की जाय, यह लेखनी व पार्थिव वाणी द्वारा संभव नहीं। यह तो उनके द्वारा बताये गये मार्ग—अध्ययन, मनन, परोपकार, पवित्र आचरण द्वारा ही संभव हो सकता है।

मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि उनका जीवन सदैव प्रेरणा बना रहे।

मेरा उनसे यद्यपि अधिक सम्पर्क नहीं रहा किन्तु उनकी यशोगाथाएं बराबर सुनने को मिलती रहती थीं। उनकी सादगी एवं परोपकारिता नगर में चर्चा का विषय रहती। जीवन का एक क्षण भी वे व्यर्थ में खोने को तैयार नहीं थे इसलिये ज्ञान के प्रसार में लगे रहते थे। जब कभी मुझे उनके पुस्तकालय में जाने का अवसर मिलता, मास्टर साहब प्रायः वहीं मिलते। उस समय कभी वे लड़कों को पढ़ाते हुए, कभी पुस्तकें देते हुए और कभी पुस्तकों के गत्ते चढ़ाते हुए मिलते। पुस्तकों के लिये वे किसी को निराश करना नहीं चाहते थे। पुस्तकालय ही उनका साधना स्थान था और उसके माध्यम से वे ज्ञान-प्रसार के मार्ग को बराबर आगे बढ़ाते रहते। घर से पुस्तकालय और पुस्तकालय से घर यही उनका संसार चक्र था। अपने शिक्षक जीवन में उन्होंने न जाने कितने विद्यार्थियों का भला किया था। कितनों को नया जीवन दान दिया था और कितनों को सही मार्ग पर लगाया था। यही कारण है जो भी उनके सम्पर्क में आ गया वही उनका होकर रह गया। वे पूर्ण साधु स्वभाव के महापुरुष थे और संस्कृत के एक पुराने श्लोक के अनुसार उनकी विद्या ज्ञान-प्रसार के लिये, धन अभावग्रस्तों का अभाव पूरा करने के लिये और शक्ति कमजोरों की रक्षा के लिये काम आती थी।

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिपरेषां परिपीडनाय ।
खलाय साधो विपरीतमेतत्
ज्ञानाय, दानाय च रक्षणाय ।।

आदर्श महापुरुष

(डा० ताराचन्द्र जैन बख्शी)

मास्टर मोतीलालजी संघी त्याग, तपस्या, दया, सरलता व सादगी की प्रत्यक्ष सौम्य सजीव मूर्ति थे । क्रोध, अहंकार, मोह, उनको छू तक नहीं गये थे । उनका सारा जीवन ही सेवामय था ।

मेरा मास्टर साहब से सर्वप्रथम प्रत्यक्ष परिचय सन् १९३७ में हुआ । मेरे एक सहपाठी मित्र के माध्यम से जबकि मैं कॉलेज में पढ़ता था । मास्टर साहब ने मुझसे इस प्रकार आत्मीयता से बातचीत की, जैसे कोई वर्षों पुराना सम्पर्क हो । मेरे पिताजी श्री केसरलालजी बख्शी का नाम बतलाने पर तो उन्होंने कहा कि तुम मेरे ही बच्चे हो ।

इसके पश्चात् मैं मास्टर साहब से उनके सन्मति पुस्तकालय में से अक्सर पुस्तकें लेने के लिये जाने लगा । एक दिन मास्टर साहब ने मुझसे पूछा कि दिन भर में ५ मिनट तुम अपने लिये भी कुछ काम करते हो या नहीं । मैंने उन्हें तुरन्त उत्तर दिया कि यह भी कोई पूछने की बात है । मैं २४ घंटे ही खाना, पीना, पढ़ना, मनोरंजन करना यह सब कार्य अपने लिये ही तो करता हूं । मास्टर साहब ने कहा अरे भाई ! यह सब तो शरीर की क्रिया है, शरीर तो यहीं पड़ा रह जायगा, अपनी आत्मा के कल्याण के लिये भी कुछ उद्यम करते हो या नहीं ? कहां से आये हो ? तुम्हारा क्या कर्तव्य है ? धर्म ही तुम्हारे साथ जायेगा । अतः धर्म व चरित्र सम्बन्धी पुस्तकें अधिक पढ़ा करो" । उस रोज ही सर्वप्रथम मास्टर साहब के उपदेश से मुझे भान हुआ कि मेरी आत्मा भी कोई वस्तु है और वह शरीर से भिन्न है । मास्टर साहब ऐसे ही सरल ढंग से प्रेमपूर्वक उपदेशों द्वारा सभी विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा की ओर आकर्षित करते हुए उन्हें धार्मिक पुस्तकें भी पढ़ने के लिये देते थे ।

उपरोक्त घटना के बाद तो मैं मास्टर साहब की सेवा में जल्दी २ जाने लगा। उनकी सौम्य प्रकृति व प्रत्यक्ष सजीव मूर्ति के दर्शन से ही आत्मा में अपार शांति प्राप्त होती थी। जब मैं कॉलेज में १३वें दर्जे में ही पढ़ता था, तब ससुराल पक्ष की ओर से तुरन्त मेरा विवाह करने का तकाजा हुआ पर मैंने B. Sc. करने के पश्चात् ही विवाह करने के लिये कहा। फिर मास्टर साहब पर दवाव डाला गया कि वे विवाह कर लेने की स्वीकृति देने के लिये मुझे प्रेरणा देवें। पर मेरी पढ़ाई में लगन देख कर और मेरे विचार जानने के पश्चात् मास्टर साहब ने मेरे पक्ष का ही समर्थन किया, और इस प्रकार उनके सहयोग व मार्गदर्शन से मेरी पढ़ाई की बाधा टल गई। मास्टर साहब ने सैकड़ों विद्यार्थियों को समय पर उचित सलाह देकर इसी प्रकार सन्मार्ग पर लगाया था।

छात्रों के लिए सदैव चिन्तित

(श्री कमलकिशोर जैन)

बात कोई १९३७-३८ की है, जब मैं जयपुर नगर के दरबार हाईस्कूल में पढ़ता था और स्वर्गीय पूज्य मास्टर मोतीलाल जी संघी उसमें अध्यापक थे जिन्हें स्कूल के सभी छात्र जानते थे, और जिनके आगे सभी के मस्तक अपने आप झुक जाते थे। पढ़ाने में उनकी दक्षता, व्यवहार में स्नेह और कार्य में कर्मठता ने उन दिनों शिक्षा क्षेत्र में उनको ऐसा प्रसिद्ध कर दिया था कि जब किसी को कभी कोई कठिनाई होती वह मास्टर जी की शरण में जाता और मास्टर जी उसे टालते नहीं बल्कि अपने और भी अधिक नजदीक लाकर इस प्रकार से सहयोग देते थे कि वह जीवनभर उनका ऋणी हो जाता था।

चाहे व्यापार-व्यवसाय में और चाहे उच्च सरकारी क्षेत्र में, सभी जगह मास्टरजी के अनेक शिष्य आज ऊंचे पदों पर हैं और अपने जीवन के सुखद क्षणों में उनकी शिक्षाओं का स्मरण करते हैं जिसके कारण कि वे संतोष के साथ अपना कार्य कर रहे हैं। मैं व्यक्तिशः ऐसे अनेक लोगों को जानता हूं जिन्हें मास्टरजी की कृपा से स्कूल में प्रवेश मिला, पुस्तकों का उनके लिए प्रबन्ध कराया गया और आवश्यकता हुई तब निःशुल्क ट्यूशन का लाभ भी उन्हें दिया गया। जो छात्र ऊंची श्रेणी में चले जाते थे और आगे शिक्षा प्राप्त

करने में जिनको धनाभाव के कारण कठिनाई थी उन्हें मास्टर जी ने या तो ट्यूशन दिलाई या किसी व्यक्ति से आर्थिक सहायता। जिस किसी उच्च सरकारी अधिकारी और धनिक व्यक्ति के पास वे किसी सहायता के लिए चले जाते थे, कभी भी निराश होकर नहीं लौटे बल्कि वह व्यक्ति अपने आपको उनकी सेवा करने का मौका पाकर सौभाग्यवान् समझता था।

मास्टरजी सन्मति पुस्तकालय चलाकर छात्र-छात्राओं को जो पुस्तक लाभ देते थे, वह एक ऐसा स्थायी कार्य था जिसे कि ज्ञानार्जन के क्षेत्र में आज भी भुलाया नहीं जा सकता। आज से काफ़ी वर्षों पहले नियमित क्रम में पुस्तकालय चलाना और घर-घर सम्पर्क कर शिक्षाप्रद पुस्तकों से सर्व-साधारण को लाभ देना साधारण बात नहीं थी। छोटी कक्षाओं के बच्चों के लिये उपन्यास पढ़ने को वे ठीक नहीं समझते थे—इसीलिए ऐसे वर्ग में वे धर्म संस्कृति या शिक्षा सम्बन्धी अन्य पुस्तकें अधिक देने पर बल देते थे। पुस्तकें एकत्रित करने और उन्हें पढ़ने के लिए आदत डालने के क्षेत्र में मास्टर जी ने अनुकरणीय कार्य किया था।

दरबार हाईस्कूल में मैं उनके काफ़ी निकट उन दिनों था। गर्मियों में कुर्ता-धोती पहने जब वे अपनी धीमी चाल से चलते हुए कहीं मार्ग में मिल जाते थे तो अपने छात्रों को कुछ न कुछ ज्ञान की बात दे देते थे। सर्दियों में या तो वे रूई की बन्डी पहनते थे या लम्बा कोट। अनुशासन भंग करने या अनैतिक कार्य करने पर छात्रों को चांटा मार कर या डंडे से पीटकर सही रास्ते पर लाने में भी नहीं हिचकिचाते थे। उनसे सब डरते थे परन्तु हृदय से वे निर्मल थे और गरीब छात्रों को सहायता देने में सदैव चिन्तित रहते थे।

उन दिनों पतलून पहनने का रिवाज कम था और बुशशर्ट तो चला ही नहीं था। स्कूल में हाफपेंट-नेकर कमीज का रिवाज था। सामान्य तौर पर स्कूल के बाहर गरारा (पजामा) और कमीज युवक वर्ग में पहना जाता था। धोती भी नवयुवक लोग पहना करते थे। मैं भी एक दिन पता नहीं क्यों धोती कमीज पहन कर कहीं जा रहा था। हल्दियों के रास्ते में वे मिल गये, उन्होंने ही मुझे देख लिया और आवाज़ लगाई, रास्ते के बीच ठहराकर। नीचे से ऊपर तक मुझे देखा और मेरी खुली लांग की धोती को वहीं खुलवा-कर लांग बंधवायी। उन्हें खुली लांग की धोती पहनना पसन्द इसलिए नहीं था कि उसमें व्यक्ति ढीला रहता है। मेरी क्या हिम्मत थी। मैंने चुपचाप जैसे उन्होंने कहा वैसा ही किया और काफी जान-पहचान के लोग

एकत्रित हो गये–बड़ी शर्म आयी, लेकिन क्या करता उनके सामने किसकी बोलने की हिम्मत थी। फिर मैंने भी उन दिनों ऐसी भूल नहीं की।

इसी तरह दूसरी घटना याद आती है जिसे मैं अभी तक नहीं भूल पाया हूं। एक दिन प्रातः जल्दी ही वे मेरे घर आगये और मुझसे उन पुस्तकों की मांग की जिन्हें मैं पिछली कक्षा में पढ़ चुका था और अब अगली कक्षा में उनकी मुझे आवश्यकता नहीं थी। शायद वे किसी अन्य छात्र को देना चाहते थे। मैंने बहुत धीरे से गर्दन झुकाकर उत्तर दिया कि मैंने मेरे किसी रिश्तेदार को देने का आश्वासन दे दिया है। उन्होंने कहा कि तुम तो एक को दोगे और मेरे से जाने कितने लोग इसका लाभ उठावेंगे। तुम्हारे रिश्तेदार को भी मैं लाभ पहुंचा दूंगा, उसे मेरे पास भेज देना। मैंने तुरन्त चुपचाप पूरी पुस्तकें दे दी और वास्तव में उनसे कई छात्रों को लाभ पहुंचा होगा।
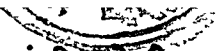
संघी मोतीलालजी मास्टर

अन्तिम दर्शन

विचार

ग्रौर

दृष्टिकोण

मास्टर मोतीलालजी ने एक पुस्तिका—अपना हित—पुस्तकालय की ओर से प्रकाशित कराई थी जिसमें मानव-हित के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे, दूसरी पुस्तिका वैराग्य भजन-संग्रह थी। इसके अतिरिक्त उनकी सजिल्द छः नोट बुकें हैं जिनमें वे अपनी पसन्द के पद्य, गीत, कहावतें, उपदेश आदि संग्रह करते रहते थे। यहाँ, अपना हित, के कुछ अंश दिए जा रहे हैं तथा कुछ भजन-उपदेश भी दिये जा रहे हैं जो मास्टर साहब के आध्यात्मिक विचार और दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हैं।

—सम्पादक

(१)

"इस श्वाँस के धोखे का क्या ठिकाना।
जीवन क्षणिक है यही सबने जाना॥
पर-स्वार्थ में मुझको जीवन लगाना।
ना जाने किस क्षण यहाँ से हो, जाना॥

संसार में अथवा भारत में तीन ही बड़ी कौमें हैं:—हिन्दू, मुसलमान और ईसाई। तीनों के ही धर्म—हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म हैं। प्राचीनकाल में बौद्ध-धर्म भी भारत में था, परन्तु आजकल इस धर्म के अनुयायी चीन, जापान आदि देशों में हैं, भारत में बहुत कम हैं। हिन्दू, इस्लाम और ईसाई तीनों ही नर्क, स्वर्ग, मोक्ष, मनुष्य जाति, पशु, पक्षी आदि को मानते हैं।

हिन्दू कहते हैं मोक्ष मनुष्य को ही प्राप्त हो सकता है; नारकी, देव, पशु, पक्षी आदि को नहीं। इसी तरह मुसलमान भी कहते हैं, 'इन्सान अशरफ उल मखलूकात' है। ईसाई भी इन्सान का ही दर्जा ऊंचा मानते हैं इसलिये मनुष्य जीवन बहुत ही अमूल्य है।

यह जीव एक अकेला ही है—माता, पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र आदि कोई भी इसका सच्चा साथी नहीं है, सब मतलब के हैं। जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है तब तक अपनाना और स्वार्थ खत्म होने पर दुतकारना। यहाँ तक कि यह जीव जो कर्म करता है, वह भी तो साथ नहीं रहता, भला-बुरा फल देकर झड़ जाता है। एक धर्म ही ऐसा है जो इस जीव के साथ रहता है और दुःख में सहायता करता है, जब हम हमारे सच्चे साथी धर्म को ही भूल गये, तो फिर क्यों न इसके बिना हम सब दुःखी होंगे किसी को पैसा न होने

का दुःख, किसी को कुपुत्र का, कोई अस्वस्थ है तो कोई अल्पायु है, अर्थात् कोई जीव सुखी नहीं हैं। इसलिये सब प्राणी, मनुष्ये व मनुष्येत्तर सब ही सुख चाहते हैं, दुःख से डरते हैं, दुःखों से बचने या छूटने और सुख प्राप्ति के लिये निरन्तर उद्यमशील रहते हैं। खाना-पीना, व्यौपार करना, पढ़ना, पढ़ाना, देश-देशों में यात्रा करना, जप, तप, दान, पूजा और सेवा भक्ति आदि सब इसी निमित्त करते हैं।

यदि सुख का लक्ष्य भी पहचान लिया, लेकिन जिस दिशा में लक्ष्य है वह दिशा न जानी, और विपरीत दिशा में चलना प्रारम्भ कर दिया, जैसे लक्ष्य तो पूर्व दिशा में हैं और हम पश्चिम की तरफ रवाना हो जावें, तो हम कितनी भी तीक्ष्ण गति से चलें, लक्ष्य से दूर ही होते जावेंगे और लक्ष्य प्राप्ति कभी भी नहीं होगी।

लक्ष्य भी पहचान लिया, दिशा भी जान ली, यदि यथार्थ मार्ग पर न चलें तो भी लक्ष्य की प्राप्ति नही हो सकती। लक्ष्य की प्राप्ति तब ही हो सकती है कि जब हम हमारे पूर्वजों के चले हुये निष्कंटक मार्ग पर चलें और उनके माफ़िक लक्ष्य प्राप्त करें। बस इन्हीं तीन बातों को 'सम्यक्-दर्शन' [अपने लक्ष्य की पहचान तथा उस पर दृढ़ श्रद्धा या विश्वास], 'सम्यक्ज्ञान' [लक्ष्य की दिशा जानना तथा लक्ष्य का सच्चा ज्ञान], और 'सम्यक्चारित्र' [लक्ष्य की दिशा में शक्ति के अनुसार ठीक ठीक मार्ग पर चलना] इनको Right Belief, Right Knowledge and Right Conduct भी कह सकते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि लक्ष्य है क्या चीज ? इसका उत्तर यह है कि हम सब जीवों का ध्येय आत्मा की उस अवस्था को प्राप्त करना हो सकता है जिसमें दुःख, आकुलता, चिन्ता, इच्छा आदि का कोई भी कारण न रहे। वह दशा 'मोक्ष' है। मोक्ष प्राप्ति होने पर आत्मा को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य अर्थात् अनन्त शक्ति प्राप्त हो जाती है और इन गुणों में कभी बाधा नहीं आती।

मोक्ष की प्राप्ति में हम संसारी जीवों को क्या क्या बाधाएं रोक रही है ? कठोपनिषद् में बतलाया गया है कि यह शरीर एक गाड़ी है, इन्द्रियां घोड़े है, मन लगाम है, बुद्धि अर्थात् ज्ञान कोचवान है और आत्मा इसमें बैठने वाली है। शरीर को हम सब लोग अपना मानते हैं, यही हमारा अज्ञान तथा अविद्या है, क्योंकि यह शरीर तो किराये की गाड़ी के समान है।

हम लोग आजकल शरीर के सांईस ही बन रहे है, इसको अच्छा खिलाना, सुन्दर कपड़े पहनाना, पोंछना, धोना, निहलाना आदि ही अपना

कर्तव्य समझते हैं। आजकल के नवयुवक तो तेल-साबुन लगाकर शरीर का शृङ्गार करना, बूंटों की पालिश करना तथा छैल-छबीला बनना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य समझते है। ऐसा सुनने में आया है कि सालभर में एक लाख रुपयों से अधिक का तेल साबुन सिर्फ जयपुर ही मे खर्च हो जाता है। फैशन इतना बढ़ गया है कि इतने ही रुपयों की बीड़ी-सिगरेट का फिजूल खर्च जो स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है, बढ़ता जाता है, इन्हीं वस्तुओं से सारा संसार दुःखी हो रहा है। इसका खास कारण एक यह भी है कि हम बिना वजह अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा लेते हैं जिनका फिर घटाना बड़ा कठिन हो जाता है और फलतः हम सब दुःखी रहते हैं। हमको इस शरीर रूपी गाड़ी के सांईस न बन कर इसके मालिक बनना चाहिए और इस गाड़ी को काम में लेकर हमारा लक्ष्य जो मोक्ष है उसकी प्राप्ति की कोशिश करना चाहिए।

हमें अपने शरीर रूपी गाड़ी पर सवार होकर मोक्ष प्राप्ति के मार्ग पर इस प्रकार चलना चाहिए कि जब यह मौजूदा शरीर रूपी गाड़ी छूटे तो फिर मनुष्य शरीर रूपी गाड़ी ही हमको मिले। फिर यदि हम लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग पर ही चलते रहें तो पांच-सात शरीर पाकर ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं और घोर सांसारिक दुखों से मुक्त हो सकते हैं। यदि यह मनुष्य शरीर रूपी गाड़ी छूट कर फिर मनुष्य शरीर रूपी गाड़ी न मिले तो फिर चौरासी लाख योनि में भ्रमण करना पड़ेगा और कठोर यातना सहनी पड़ेगी।

(२)

प्रश्न उठता है—मनुष्य शरीर छूटकर फिर मनुष्य शरीर की प्राप्ति किन साधनों से हो सकती है?

(४)

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित तीन बातें भी ध्यान में रखने की हैं– जीवन-निर्वाह, (२) जीवन सुधार, (३) और सन्यास मरण।

जीवन-निर्वाह न्याय नीति से द्रव्य उपार्जन करके होना चाहिये। जिसका जीवन-सुधार होता है उसी का सन्यास व धार्मिक मरण हो सकता है, जिसका धार्मिक मरण नहीं होता वह जीव मरकर दुर्गति में जाता है।

जीवन-सुधार संसार से विरक्तता और वैराग्य से ही हो सकता है। इसके लिए चार बातें और याद रखनी चाहिये किन्तु इसके माने यह नहीं है कि साधु ही हो जावें। तो क्या करें ? संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त रहें। रामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि "नाव चाहे पानी में रहे, लेकिन नाव में पानी नहीं रहना चाहिये।" जीव भले ही संसार में रहे मगर जीव के हृदय में संसार नहीं रहना चाहिये। एक कवि कहते हैं:—

रत्नत्रय धर्म पालकर, करों कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर्गत न्यारा रहो, ज्यों धाय खिलावे बाल॥

आत्म श्रद्धान्, श्रद्धा सहित आत्मा का ज्ञान और इस ज्ञान के अनुसार आत्मा में रमण या चर्या करना ही रत्नत्रय धर्म है। चार आवश्यक बातें ये हैं:– दान देना, प्रियवचन बोलना, मात्र जीवों का विनय करना और दूसरों के गुणों को ग्रहण करना तथा अवगुणों पर दृष्टि न डालना।

(५)

महर्षि पातञ्जली कहते हैं कि यम और नियमों के पालन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यम पांच हैं:—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन सब यमों का गुरु है–लालसा का त्याग। किसी प्रकार की लालसा का न होना ही मोक्ष का मार्ग हैं। जब तक लालसाएं बनी हुई हैं, हृदय से निकली नहीं हैं, तब तक मोक्ष की इच्छा करना पवन को मुठ्ठी में रोकने की चेष्टा करना है, इसलिये लालसाओं का त्याग आवश्यक है। इनका त्याग करने के लिए झूंठ को छोड़ने की आवश्यकता है। जहां झूंठ है वहां हिंसा है, जहां हिंसा है वहां लालसा है। झूंठ का त्याग करने के लिए चोरी का त्याग करना आवश्यक है। बिना चोरी के त्यागे झूंठ नहीं छूट सकती। चोरी के त्यागने के लिये कुशील का त्याग करना अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करना जरूरी है। बिना ब्रह्मचर्य पालन किये बिना इन्द्रियों को वश में किये, न तो चोरी छूट सकती है, न झूंठ और न हिंसा ही। ब्रह्मचर्य

पालन करने के लिये ही परिग्रह का त्याग करना पड़ता है। पाप कराने वाला या संसार में भ्रमण कराने वाला एक परिग्रह है, इसलिये परिग्रह को छोड़ना जरूरी है। संसार की जिस वस्तु से आत्मा को ममत्त्व है, वही परिग्रह है। संसार की प्रत्येक वस्तु से ममत्त्व छोड़ो। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिये परिग्रह, ब्रह्मचर्य, चोरी, भूंठ और हिंसा का क्रमशः त्याग करना होता है। जो आत्मा इसका जितने अंश में त्याग करेगा उसकी लालसाएं भी उतनी ही होगी, मोक्ष के वह उतना ही समीप होगा।

नियम पांच प्रकार के बताये हैं। (१) शौच दो प्रकार का, बाहर और भीतर की शुद्धि। न्याय नीति से उपार्जित द्रव्य के द्वारा आहार तथा योग्य वर्ताव से आचरण की, और जल व मिट्टी आदि से शरीर की शुद्धि को बाहर की शुद्धि कहते हैं। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकारों का नाश होकर अन्तःकरण का शुद्ध हो जाना भीतर की शुद्धि है।

(२) **संतोष**—जो कुछ कर्मो के उदय से प्राप्ति हो उसी में संतुष्ट रहना संतोष है। एक कवि कहता है:—

संतोषी सदा सुखी, दुःखी तृष्णावान ।
चाहे वेद पढ़ो, चाहे पढ़ो कुरान ।।

अपने से छोटों को लख, सन्तोष हृदय में लाओ तुम ।
सम्पति का अभिमान छोड़, छोटों पर निगाह लगाओ तुम ।।

(३) **तप**—शीतोष्णादि बाईस परिग्रहों पर विजय प्राप्त करना और व्रतों का करना, भूख-प्यास आदि का कष्ट सहना, उपसर्गों को सहना तप है। तप और ध्यान से तमाम संचित कर्मो का विना फल दिये नाश हो जाता है।

(४) **स्वाध्याय**—आप्त अर्थात् सर्वज्ञ पुरुषों के उपदेशों के अनुसार लिखे हुये ग्रन्थों का पढ़ना, पढ़ाना, सुनना स्वाध्याय है।

(५) **ईश्वर प्राणिधान**—संसार से बिलकुल हटकर ईश्वर में तन्मय हो जाने को ईश्वर प्रणिधान कहते हैं।

लोग अक्सर कहा करते हैं कि अभी जवानी तो भोग भोगने और संसार के सुख देखने की है। धर्म सेवन के लिये तो बुढ़ापा ही बहुत है। बुढ़ापे में इन्द्रियां, हाथ, पैर आदि सब शिथिल हो जाते हैं, उस समय सांसारिक कार्य ही नहीं हो सकते तो मोक्ष प्राप्ति जैसा दुर्लभ काम तो कैसे हो सकता है। एक कवि कहता है :—

"तरुण भये मन भ्रमर भया, वृद्ध भये देह थाक रही है।
दिन बीत गये प्रभु नाम जपे, अब जीतब में क्या खाक रही है ?
प्राण थके बुद्धि हीन भई, अब नैनन में नहीं ताक रही है।
लोग कहें अजी राखो रही, अब राखन को क्या राख रही है ??

मनुष्य का कर्त्तव्य यह है कि जवानी में ही ऐसे मार्ग को ग्रहण करे और ऐसे कार्य करे जिससे उसे बुढ़ापे में पछताना न पड़े।

(६)

हम किसी का उपकार या भला करें तो उसका उस व्यक्ति पर एहसान न जतावें। यदि हमारे प्रति कोई उपकार करे तो हम उसके कृतज्ञ रहें और उसे याद रक्खें। भगवान व्यासदेव अठारह पुराणों का सार केवल दो ही वचनों में कहते हैं:—"परोपकार पुण्य का हेतु है और पर-पीड़न पाप का हेतु है।

आभरण नर देह का, बस एक पर-उपकार है।
हार को भूषण कहे, उस बुद्धि को धिक्कार है॥

हम लोगों को 'ब्राह्मण' बनने की कोशिश करनी चाहिये।

जपो यस्य तपो यस्य यस्य चेन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया यस्य स वै ब्राह्मण उच्यते॥

भावार्थ—जो जप करता है, तप करता है, इन्द्रियों को वश में रखता है, सब प्राणियों पर जिसके हृदय में दया भाव है वह ब्राह्मण है।

(७)

प्रत्येक मनुष्य को सुबह उठते ही भगवान से हाथ जोड़कर पांच बातों की प्रार्थना करनी चाहिये।

(१) आज मुझसे कोई पाप कार्य या बुरा काम न हो जाय। (२) मेरे ज्ञान की वृद्धि हो। (३) मेरे परिग्रह कम हों। (४) हे भगवन् ! कभी ऐसा अवसर आवे कि साधु बनकर मानव जीवन सफल करूं। (५) हे भगवन ! मेरा धार्मिक तथा सन्यास मरण हो। रात को सोते समय दिन भर के किये कार्यों का विचार करे कि कोई अनुचित काम तो नहीं होगया है। यदि हो गया हो तो पश्चात्ताप करे और भगवान से माफ़ी मांगे और प्रार्थना करे कि भविष्य में मुझसे ऐसा कार्य न हो। यदि किसी जीव को बाधा पहुंची हो या किसी का नुकसान हो गया हो तो शुद्ध हृदय से हाथ जोड़ कर माफ़ी मांगे। यदि फिर कभी उससे मिलना होजाय तो हाथ जोड़

कर माफी मांगे इसके पश्चात् मात्र जीवों से प्रार्थना करे कि हे सब जीवों ! आज तक तुमसे मेरे प्रति कोई अपराध हुआ तो उसको मैं आपको क्षमा करता हूं, और मुझसे आपका कोई अपराध हुआ हो, तो आप मुझ को क्षमा करें।

मैं इच्छुक हूं क्षमा भाव का, क्षमा कीजिये।
भूल चूक अपराध हुये हों, माफ कीजिये ।।
मैं अपना मन साफ सभी से कर लेता हूं।
सबको सब विधि प्रेमधार माफी देता हूं ।।

जहां तक हो सके प्रत्येक मनुष्य को दो बातों को ध्यान में रखना चाहिये—'मौत और भगवान'।

दो बातन को याद रख, जो चाहे कल्यान।
'नारायण' एक मौत को, दूजो श्री भगवान ।।

मौत और भगवान को हर समय याद रखने से मनुष्य से पाप नहीं होते।

एक मन्दिर में रोज कथा बचती थी। जितने सुनने आते थे सबको एक २ मूंठी पताशे की दी जाती थी। इसके लालच से एक चौकीदार का लड़का भी नित्य कथा सुनने जाने लगा। सुनते २ उसे कुछ धर्म का बोध भी हो गया। फसल के दिनों में खेतों में से चौकीदार दो मन की पोट रोज चुरा लाया करता था। एक दिन उस चौकीदार ने अपने लड़के से कहा 'तू आज मेरे साथ चले तो चार मन की पोट चूरा लाऊं। ले तो मैं आऊंगा, मगर मुझसे उंचती नहीं। लड़का चला गया, चौकीदार ने पोट बाँधली और चारों ओर देखने लगा कि कोई देखता तो नहीं है। तब उस लड़के ने कहा 'बाबा' तूने ऊपर तो देखा ही नहीं, चौकीदार ने पूछा 'कौन देखता है ? लड़के ने कहा:—'भगवान देखते हैं। चौकीदार पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि पोट के अनाज को फेंक कर उस दिन से चोरी करना छोड़ दिया।

धन दे तन को राखिये, तन दे रखिये लाज।
तन दे, धन दे, लाज दे, एक धर्म के काज ।।

अन्त में :—

मुझको सदा करना क्षमा, कर याचना चरनन परूं ।।
संसार के सब प्राणियों में, आत्मवत दर्शन करूं ।।
और मित्रता सब जगत के, प्राणियों से हो सदा।
द्वेष रञ्ज न हो किसी से, प्रेम सब से हो सदा ।।

---

(१)

कामना

दयामय ऐसी मति होजाय ।
त्रिजगत् की कल्याण कामना, दिन-दिन बढ़ती जाय ।।
औरों के सुख को सुख समझूँ, सुख का करूँ उपाय ।
अपने दुःख सब सहूं किन्तु, पर दुःख नहिं देखा जाय ।।
अधम अज्ञ अस्पृश्य दीनतम, दुखी और असहाय ।
सकल जीव अवगाहन हित मम, उर सुरसरि बन जाय ।।
भूला भटका उल्टी मति का, जो है जन-समुदाय ।
उसे सुझाऊं सच्चा सत्पथ, निज सर्वस्व लगाय ।।
सत्य धर्म हो सत्य कर्म हो, सत्य ध्येय बन जाय ।
सत्य चिदानंद और लखै पर, सत्य स्वरूप समाय ।।

(२)

मेरी अभिलाषा

सन्त साधु बनके विचरूं वह घड़ी कब आयगी ।
शान्ति दिल पर मेरे वैराग्य की छा जायगी ।। टेक ।।
मोह ममता त्याग दूं मैं सब कुटुम्ब परिवार से,
छोड़ दूं झूँठी लगन धन धान्य अरु घरबार से ।
नेह तजदूं महल और मन्दिर अरु चमन गुलजार से,
वन में जा डेरा करूं मुंह मोड़ इस संसार से ।। १ ।।

काल सिर पर काल का खंजर लिए तैयार है,
कौन बच सकता है इससे इसका गहरा वार है ।
हाय ! जब हर हर कदम पर इस तरह से हार है,
फिर न क्यों वह राह पकड़ूं सुख का जो भण्डार है ।। २ ।।

ज्ञान रूपी जल से अग्नि क्रोध की शीतल करूं,
मान माया लोभ राग औ द्वेष आदिक परिहरूँ ।
वस में विषयों को करूँ और सब कषायों को हरूँ,
शुद्ध चित आनन्द से मैं ध्यान आतम का धरूँ ।। ३ ।।

जग के सब जीवों से अपना प्रेम हो और प्यार हो,
और मेरी इस देह से संसार का उपकार हो।
ज्ञान का प्रचार हो और देश का उद्धार हो,
प्रेम और आनन्द का व्यवहार घर घर वार हो ॥ ४ ॥

प्रेम का मन्दिर बनाकर ज्ञानदेवहिं दूं बिठा,
शान्ति और आनन्द के घड़ियाल घण्टे दूँ बजा।
और पुजारी बनके दूं मैं सब को आतम रस चखा,
यह करूं उपदेश जग में, कर भला होगा भला ॥ ५ ॥

आए कब वह शुभ घड़ी जब बन बिहारी बन रहूं,
शान्त होकर शान्ति-गंगा का मैं निर्मल जल पिऊँ।
"ज्योति" से गुण ज्ञान की अज्ञान सब जग का दहूं,
'हो सभी जग का भला' यह बात मैं हरदम चहूं ॥ ६ ॥

(३)

प्रभात-चिन्तन

या नित चितवो उठिके भोर—

मैं हूं कौन ? कहां तें आयो ? कौन हमारी ठोर ॥टेक॥

दीसत कौन ? कौन यह चितवत ? कौन करत है शोर ?
ईश्वर कौन ? कौन है सेवक ? कौन करत झकझोर ? ॥ १ ॥

उपजत कौन ? मरै को भाई ? कौन डरे लखि घोर ?
गया नहीं आवत कछु नाहीं, परिपूरन सब ओर ॥ २ ॥

ओर ओर में और रूप ह्वै, परनति करि लई और।
स्वांग धरे डोलो याही तैं, तेरी 'बुधजन' भोर ॥ ३ ॥

(४)

सुभाषित

ईश्वर के घर जाने का यह रास्ता है नर।
दिल किसी का मत दुखा फिर जी चाहे सो कर ॥ १ ॥

काम क्रोध मद लोभ की, जब तक मन में खान।
तब तक पंडित मूरखौ, तुलसी एक समान ॥ २ ॥

तू तो याही कहत है, मेरी माया मुलक ।
तेरे ही राखे रहे, तो काया राख पलक ॥३॥

जहां राम तंह काम नहीं, जहाँ काम नहिं राम ।
तुलसी कबहूं होत नहि, रवि–रजनी इक ठाम ॥ ४ ॥

छामा-खडग लीने रहै, खल को कहा बसाय ।
अग्नि परी तृन रहित थल, आपहिते बुझ जाय ॥ ५ ॥

साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय ।
सार-सार को गहि रहै, थोथा देहि उड़ाय ॥ ६ ॥

आप भुलानो आपतैं, बंध्यौ आपतें आप ।
जाको ढूंढत आप तू, सो तू आपौ आप ॥ ७ ॥

(५)

राधा-स्वामी हुजूर महाराजा का वचन

मनसा वाचा कर्मणा सबको सुख पहुँचाय ।
अपने मतलब कारने दुःख न दे तू काय ॥

जो सुख नांहीं दे सके तो दुःख काहू मत देय ।
ऐसी रहनी जो रहे सोई शब्द-रस लेय ॥

(६)

रामायण

विराजै रामायण घट मांहि,
मरमी होय मरम सो जानैं, मूरख मानैं नाहिं ॥ १ ॥

आतम-राम, ज्ञान गुण लछमन, सीता सुमति समेत ।
शुभ उपयोग वानर दल मंडित, वर विवेक रण-खेत ॥ २ ॥

ध्यान धनुष टंकार सोर सुनि गई विषय दिति-भाग ।
भई भस्म मिथ्या मत लंका, उठी धारना आग ॥ ३ ॥

जरे अज्ञान भाव-राक्षस कुल, लरे निकांछित सूर ।
जूझे राग-द्वेष सेनापति, संसय गढ़ चकचूर ॥ ४ ॥

विलखत कुंभकरण भवविभ्रम, पुलकित मन दरयाव ।
थकित उदार वीर महि रावण, सेतुबन्ध समभाव ॥ ५ ॥

मूर्छित मंदोदरी दुराशा, सजग चरन हनुमान ।
छटी चतुर्गति परणति सेना, छुटे छपक गुणवान ।। ६ ।।

निरखि सकति गुण चक्र सुदर्शन, उदय विभीषण दीन ।
फिरै कबंधमही रावण की, प्राण-भाव सिर हीन ।। ७ ।।

इह विधि सकल साधु घट अन्तर, होय सहज संग्राम ।
वह व्यवहार दृष्टि-रामायण, केवल निश्चय राम ।। ८ ।।

(७)

बहुत से मनुष्यों की यह इच्छा रहती है कि हमारा प्रभाव दूसरों पर पड़े और वे कोशिश भी करते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है । प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन-सुधार की कोशिश करनी चाहिये । जीवन-सुधार की यह तरकीब है कि अपने अन्दर जो दुर्गुण हों उनको निकालने की और सद्‌गुणों को ग्रहण करने की तरकीब करनी चाहिये । जब दुर्गुणों का नाश हो जायगा और सद्‌गुण ही सद्‌गुण बचे रहेंगे तो दूसरों पर प्रभाव अपने आप ही पड़ने लगेगा ।

(८)

अब हम अमर भये न मरेंगे, हमने आतमराम पिछाना ।।

जल में गलत न जलत अग्नि में, असि से कटत न विष से हाना ।।
चीरत फांस नपेरत कोल्हू, लगत न अग्नि बाण निसाना ।।१।।

दामिनि परत न हरत वज्रगिरि, विषधर डस न सके यह जाना ।
सिंह व्याघ्र गज ग्राह आदि पशु, मार सके कोई दैत्य न दाना ।।२।।

आदि न अन्त अनादि निधन यह, नहिं जनमत नहिं मरत सयाना ।
पाय पाय पर्याय कर्मवश, जीवन मरन मान दुःख ठाना ।।३।।

यह तन नसत और तन पावत, और नसत पावत अरु नाना ।
यों बहुरूप धरे बहुरूपियों, बहु स्वांग धरे मन माना ।।४।।

ज्यों तिल तेल दूध में घी ज्यों, त्यों तन में आतमराम समाना ।
देखत एक, एक ही समझत, कहत एक ही मनुज सयाना ।।५।।

पर पुद्‌गल, पर यह आतम नहिं इक दो तत्व प्रधाना ।
पुद्‌गल मरत जरत अरु विनसत, आतम अजर अमर गुणवाना ।।६।।

अमर रूप लखि अमर भये हम, समझे भेद जो वेद बखाना ।
ज्योति जगी श्रुत की घट अन्दर, ज्योति निरन्तर उर हर्षाना ।।७।।